जयसत्य

खुली हुई गुत्थियाँ

लेखक

स्वामी सत्यभक्त

संस्थापक सत्यसमाज

उपयोग।

करना अनेक ...

है । सत्याश्रम म. प्र. ...

प्रकाशक

वर्धा

... चार आना]

[दिसम्बर १९४१

विषय सूची

नं. विषय

१ यज्ञ

२ धर्मालय में मूर्त्ति

३ सत्य अहिंसा के नरनारी रूप

४ नागयज्ञ का समर्पण

५ सब धर्मों मे एकता

६ धर्मालय में धार्मिक क्रियाएँ

७ प्रार्थना पूजा नमाज़

८ नाम [illegible] छाप

९ इस्लाम और मूर्ति पूजा

१० समय[illegible]

सुलझी हुई गुत्थियाँ

प्रश्न १-यज्ञ के विषय में आपके क्या विचार हैं ? यज्ञ हिन्दू धर्म की ख़ास चीज़ है, हिन्दू धर्म के साथ समभाव दिखाने के लिए यज्ञ में भाग लेना ज़रूरी मालूम होता है। जीवन में यज्ञ की आवश्यकता भी बहुत है, क्योंकि इससे हवा शुद्ध होती है, चिकित्सा की दृष्टि से भी यज्ञ उपयोगी है, अग्नि से संस्कृत करके ही भोजन करना अनेक दृष्टियों से उपयोगी मालूम होता है। सत्याश्रम में प्रार्थना के समान यज्ञ क्यों नहीं होता ?

[—एक यज्ञ-प्रेमी भाई]

उत्तर—यज्ञ हिन्दू धर्म की चीज़ नहीं है—यह वैदिक धर्म की चीज़ है, पर वैदिक

धर्म तो डेढ़ दो हज़ार वर्ष पहिले ही समाप्त हो चुका अब तो विशाल हिन्दू धर्म है। वैदिक-धर्म और हिन्दू-धर्म में बहुत अन्तर है—वैदिक-धर्म का सर्वश्रेष्ठ देव इन्द्र, हिन्दू-धर्म का सर्वश्रेष्ठ देव—विष्णु, शिव या शक्ति; वैदिक-धर्म अमूर्त्तिपूजक, हिन्दू-धर्म मूर्त्तिपूजक; वैदिक-धर्म में यज्ञ, पशु आदि की आहुति, हिन्दू-धर्म में भजन पूजन आरती आदि; दर्शन शास्त्र भी दोनों के समय का जुदा जुदा; इस प्रकार दोनों में बहुत अन्तर है। यज्ञ वैदिक धर्म की चीज़ है, हिन्दू धर्म की नहीं।

अगर यह हिन्दू धर्म का अंग हो भी, तो भी यज्ञ में भाग लेना ज़रूरी नहीं है। सर्वधर्मसमभाव और सर्वविधिसमभाव में अन्तर है। सर्वधर्म-

समभावी सभी विधियों में भाग न लेगा वह एक धर्म की कुछ निर्दोष विधियाँ चुन लेगा। वह काली के आगे बकरा चढ़ाने में शामिल न होगा ईद मे गोवध या पशुवध न करेगा पर पूजा नमाज़ प्रार्थना आदि में शामिल होगा। समभाव के लिये हिन्दू धर्म मे से वह भजन और आरती आदि ले सकता है यज्ञ में भाग लेना ज़रूरी नहीं है।

यज्ञ तो उठ ही गये थे, उनकी ज़रूरत भी नहीं थी, इन्हे तो कारण वश आर्यसमाज ने फिर बुलाया, इस में एक तरह का प्राचीनता का मोह ही मुख्य कारण है, सर्वधर्मसमभावी में प्राचीनता का मोह न होना चाहिये।

यज्ञ से अगर हवा शुद्ध होती है तो खुले

मैदानों में यज्ञ करने की जरूरत नहीं है क्योंकि वहाँ की हवा तो इतनी शुद्ध है कि उससे अधिक शुद्ध करने के लिये सारे जंगल जला देना और सारा घी दूध खपा देना भी पर्याप्त न होगा, सिर्फ गन्दे स्थानों मे अथवा कुन्द मकानों में यज्ञ करना चाहिये। यज्ञ में अगर चिकित्सा होती हो तो अनेक चिकित्सा यन्त्रों के साथ अस्पतालों में यज्ञकुंड रखना उचित है जिससे चिकित्सा के समय उसका उपयोग किया जाय, उसे साम्प्रदायिक आचार में कैद क्या रक्खा जाय।

अग्नि से संस्कार करके भोजन लेना अच्छा है। पुराने ज़माने में अग्नि कुंड में जलाई जाती थी, लोग उस अग्नि--कुंड में भोजन पकाते थे, यही उसका अग्नि-संस्कार था

और यही था यज्ञ। यज्ञ का असली अर्थ खाद्य सामग्री का पकाना है जला डालना नहीं। इस ठीक अर्थ मे यज्ञ आज भी होते है। हाँ, यज्ञ-कुंड का रूप बदलता जाता है, भट्टी, चूल्हा, सिगड़ी प्राइमस आदि रूप उसके बनते जाते है, लोग इन्ही यज्ञ-कुंडों को भेंट चढ़ाकर, अग्नि मे संस्कार करके अर्थात् रोटी आदि पका कर खाते है, पकाने की खूब कोशिश करना चाहिये पर विवेक इतना रखना चाहिये कि वह जल न जाय। अग्नि-संस्कार के लिये रोटी पकाई जाती है जलाई नहीं जाती।

एक तरफ़ घी मेवा आदि के मनुष्यों को दर्शन दुर्लभ हो और दूसरी तरफ वे आग मे जलाये जायँ इसे और जो कुछ कहा जाय पर धर्म

नहीं कह सकते। अगर यज्ञ में जलाना आहुति देना जरूरी ही हो तो मनुष्य का पेट सब से अच्छा यज्ञ-कुंड है जिसमें आहुति देने से जीवन रहता है, बढ़ता है। पहिले उसमें पूर्ण आहुति देना चाहिये। जिस दिन राष्ट्र का, समस्त मानवजाति का, इतना ही नहीं समस्त पशुपक्षियों का पेटरूपी यज्ञ-कुंड पूरा भर जाय--तृप्त होजाय और फालतू सामग्री सड़ने के लिये रह जाय, उस दिन आगमें जलाना ठीक है। अभी तो करोड़ों मनुष्य भी दाने दाने को तरस रहे हैं, दूध घी तो उन्हें वर्षों नहीं मिलता, और इधर हम जलायें, उसका धुंआ उड़ाकर मानों उनके पेटों की हँसी उड़ायें और इसे धर्म कहें तो क्या अधर्म के सिर पर कोई और बड़े सींग होंगे।

यद्यपि यज्ञ शब्द से मुझे कोई चिढ़ नहीं है, मैंने "कृष्णगीता" में नाना तरह के भाव-यज्ञों [] का उल्लेख किया है फिर भी यज्ञ शब्द का अग्नि में

[] वही सत्य "पशु-यज्ञ" है जहां सभ्यतोद्धार ।
मानवता की आगे में पशुता का संहार ॥१॥
जन-समाज के कुंड में धन की आहुति दान ।
धन वैभव जिसमें सफल है "धनयज्ञ" महान ॥२॥
विनय कुंड में कर दिया अहंकार का होम ।
"मानयज्ञ" में मन गया पिघल जैसे मोम ॥३॥
जनता के हित के लिये करना जीवन दान ।
"प्राणयज्ञ" यह विश्व का करता है उत्थान ॥४॥
नाम रहे या जाय पर हो समाज-उद्धार ।
"कीर्तियज्ञ" यह विश्व में अनुपम त्यागागार ॥५॥
जगहित रूपी ब्रह्म में किया व्यक्ति हित लीन ।
यज्ञ शिरोमणि है यही "ब्रह्मयज्ञ" स्वाधीन ॥६॥
(कृष्णगीता से)

आहुति रूप जो अर्थ लिया जाता है उसे सत्याश्रम में स्थान नहीं मिल सकता । शिष्टाचार के नाते कहीं बैठ जाना पड़े तो यह बात दूसरी है । किसी धर्म का ऐसा क्रिया-कांड हो जिसमें अपने लिये कोई असह्य बात न हो तो उससे असहमत होकर भी उसमें उपस्थित होने में कोई बुराई नहीं है। जहाँ तक बन सके हर एक धर्म की किसी न किसी क्रिया में भाग लेने की कोशिश करना चाहिये।

२ **प्रश्न**—धर्मालय मे अगर मूर्ति न होती तो क्या काम न चलता ?

(धर्मालय के दर्शन के लिये आये हुए पंजाब के एक सुप्रसिद्ध सिक्ख नेता)

उत्तर—हरएक के लिये मूर्त्ति ज़रूरी नहीं है पर समभाव के लिये धर्मालय में मूर्त्ति का होना ज़रूरी है । मूर्त्ति-पूजक जहाँ मूर्त्ति होती है वहाँ

जाता है, जहाँ नहीं होती वहाँ भी जाता है, उसमें एक तरह की उदारता रहती है, पर अमूर्त्तिपूजक मूर्त्ति के स्थानों में जाते हुए झिझकता है—इस झिझक को दूर करने के लिये धर्मालय में मूर्त्ति ज़रूरी है, इसके बिना मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर आदि में समभाव पैदा न होगा। दूसरी बात यह है कि साधारण व्यक्ति चाहे वह सम्प्रदाय से कैसा भी हो, किसी न किसी तरह से मूर्त्तिपूजक होता है।

नेता—पर मूर्त्ति का आदर्श सामने रख देने से लोग मूर्त्ति में ही फँसकर रह जाते हैं, वे जीवन भर मूर्त्ति नहीं छोड़ पाते, वे अपना मक़सद भूल जाते हैं।

गुरुदेव—देखिये, मक़सद न तो मूर्त्ति है न अमूर्त्ति, मक़सद है **ईश्वर**, सत्य, सदाचार, विश्व-

कल्याण आदि []। मूर्त्ति के सहारे से भी हम इस मकसद को पा सकते हैं और अमूर्त्ति के सहारे से भी। ये दो दिशाओं में बने हुए एक ही महल के दो द्वार हैं, आप किसी भी द्वार से महल में जा सकते हैं। महल में जाने के लिये यह जरूरी नहीं है कि आप पूर्व के दरवाजे में से जाकर पश्चिम के दरवाजे में से भी जावें। ये सब जुदे जुदे साधन हैं, साध्य तो ईश्वर है।

[] मूर्ति--अमूर्ति

मूर्त्ति अमूर्त्ति विरोध क्या दोनों एक समान ।
मूर्त्ति पूजता कौन है सब पूजें भगवान ॥ १ ॥
उन्हें मूर्त्तियाँ व्यर्थ हैं जिनने पाया ज्ञान ।
देखें अन्तर्दृष्टि से अणु अणु में भगवान ॥ २ ॥
मित्र शत्रु के चित्र भी जिनको एक समान ।
क्षण भर क्षुब्ध न कर सकें जिनको ध्वजा निशान ॥ ३ ॥

नेता--लेकिन लोग तो ईश्वर को भूल ही जाते हैं, वे तो पत्थर को ही ईश्वर समझने लगते हैं।

गुरुदेव--अपवाद रूपमें ऐसा भ्रम भी होता है पर मुख्य बात तो यह है कि पब्लिक की मनोवृत्ति समझने मे हमसे काफ़ी भूल होती है। मुसलमान पश्चिम की तरफ मुँह करके नमाज़ पढ़ते हैं, अब कोई कहे कि मुसलमान तो सिर्फ पश्चिम में खुदा

भूग हो या तीर्थ हो जिनके हृदय न भेद ।
आदर और सम्मान का जिनको हर्ष न खेद ॥ ४ ॥
घृणा न मूर्ति से रही रहा नहीं अनुराग ।
उचित रहा उनके लिये मूर्ति--पूजा--त्याग ॥ ५ ॥
जिनका है भावुक हृदय, अवलम्बन की चाह ।
मूर्ति सहारा है उन्हें प्रभु पाने की राह ॥ ६ ॥
मूर्ति की न है प्रार्थना, है प्रभु का गुणगान ।
प्रभुको पढ़ने के लिये है वह ग्रंथ-समान ॥ ७ ॥

['कृष्ण-गीता' में]

कहा--जब राम आदि के असली फोटो मिलते ही नहीं तब उनकी झूठी मूर्त्ति क्यों बनाना चाहिये ?

गुरुदेव-- हमें चमड़े की पूजा नहीं करना है न चिहरे की लम्बाई-चौड़ाई की पूजा करना है, पूजा करना है उनके गुणों की--कार्यों की, सो उनकी याद दिलाने के लिये जो भी मुद्रा उपयोगी हो वह दिखाना चाहिये, चिहरे का तो सवाल ही नहीं है। चिहरा कैसा भी हो सकता है।

(सिनेमा के एक्टर उसी चिहरे के थोड़े ही होते हैं जिनका वे पार्ट अदा करते है, फिर भी पार्ट का असर तो होता ही है।)

चलते समय सिक्ख नेता ने कहा-- इसमें सन्देह नहीं कि आप वही काम कर रहे हैं जो चार-सौ वर्ष पहिले गुरु नानक ने किया था।

३ **प्रश्न**-- सत्य और अहिंसा के रूप में आपने पुरुष-रूप और नारी-रूप को रक्खा, इस का वास्तविक कारण क्या है ?

(धर्मालय में दर्शन के लिये आये हुए ग्वालियर स्टेट के एक मिनिस्टर)

उत्तर-- ईश्वर कहीं पुरुष-रूप माना गया है जैसे- मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि में, अथवा पुरुष-रूप को मुख्य बनाया गया है जैसे--शैव-वैष्णव आदि में, कहीं उसे नारी रूप दिया गया है जैसे शाक्तों मे, जगदम्बा काली आदि। पर ईश्वर का लिंग क्या है -कोई नहीं कह सकता। हाँ, ईश्वर सर्व-गुण-भण्डार होने पर भी उसमें पुरुषत्व भी पूर्ण है और नारीत्व भी पूर्ण है इसलिये उसे उभयलिंगी कहना चाहिये। इस देश मे यह

कल्पना भी हो चुकी है इसलिये शिवका आधा भाग नारी-रूप वर्णन किया जाता है। यह कल्पना भी अच्छी है, पर व्यावहारिकता की दृष्टि से यह ठीक मालूम हुआ कि ईश्वर को दाम्पत्य का रूप दिया जाय और दो व्यक्तियों में एक व्यक्तित्व बताया जाय।

दूसरी बात यह है कि नर नारी समभाव के लिये भी एक ईश्वर को दाम्पत्य के रूप मे देखना उचित है।

तीसरी बात यह है कि हरएक शब्द के अर्थ के पीछे एक भावना होती है और उसीमे शब्द का लिंग निश्चित होता है। चन्द्र को हिन्दुओं ने तारापति के रूप मे देखा इसलिये वह पुलिंग है, यूरोप मे उसकी सुन्दरता शान्तिप्रदता पर ध्यान गया इसलिये वह स्त्रीलिंग है। कोई

शब्द जब किसी अर्थ के स्त्रियोचित गुणों पर प्रकाश डालता है तब वह स्त्रीलिंग हो जाता है। सत्य— ईश्वर के पुरुषोचित गुणों पर प्रकाश डालता है वह तेज रूप और कुछ कठोर है - प्राकृतिक नियमों के समान अटल है इसलिए पुल्लिंग है। अहिंसा—शान्तिरूप भावना के समान कोमल-चांदनी की तरह शीतल है, उससे ईश्वर के स्त्रियोचित गुणों पर प्रकाश पड़ता है इसलिये स्त्रीलिंग है।

४ **प्रश्न**-'नागयज्ञ' आपने आस्तिक मुनिको क्यों समर्पित किया, म. गाँधी तो सर्व-धर्म-समभाव के आदर्श है उन्हें समर्पित क्यों नहीं किया ?

(एक सम्पादक, 'नागयज्ञ' नाटक की आलोचना में)

उत्तर—म. गाँधी ने सर्व-धर्म-समभाव शब्द को अवश्य अपनाया है पर सर्व-धर्म-समभाव उनके

जीवन में दिखाई नहीं देता। सर्व-धर्म-सहिष्णुता सर्वधर्मसन्मान, सर्वधर्मसमभाव ये तीनों चीज़ें सरसरी नज़र में एक सरीखी मालूम होती हैं पर इन तीनों में अन्तर बहुत है। सर्वधर्मसहिष्णुता में दूसरे धर्मों को अप्रिय और बुरा तो समझा जाता है, उनसे अपने दिल को चोट भी पहुँचती है पर जैसे रेल के डिब्बे में खराब पैसेन्जर को भी सहन करके हमें अपना सफ़र पूरा करना पड़ता है उसी प्रकार दूसरे धर्मों को खराब समझते हुए भी अपनी पराई शान्ति बनाये रखने के लिये उनको सह लेना पड़ता है। सहिष्णुता में द्वेष नष्ट नहीं होता, सिर्फ़ मौका देखकर दूसरे को निभाया जाता है। कुछ न हो तो यह भी अच्छी है पर बहुत नीची चीज़ है। महात्मा गाँधी इसे पसन्द नहीं करते या इसे पर्याप्त नहीं समझते

यह ठीक है ।

दूसरी चीज़ है सर्वधर्मसन्मान या सर्वधर्म-समादर। यह सर्वधर्मसहिष्णुता से अच्छा है। इस में किसी धर्म से घृणा नहीं होती, सच्चा आदर रहता है। यह विचार रहता है कि जैसा हमारा धर्म हमारे लिये अच्छा है उसी प्रकार दूसरे का धर्म दूसरे के लिये अच्छा है। सब को अपने अपने धर्म का ही पालन करना चाहिये और दूसरे धर्मों की इज्जत करना चाहिये। इसमे किसी के धर्म को अपनाया नहीं जाता। पड़ोसी का बाप अगर हमारे घर बैठने आये तो हम उसका आदर करेंगे कदाचित् अपने बाप से भी अधिक आदर कर दें पर उसे अपना न मानेंगे। भोजन को बैठेंगे तो उसकी उपस्थिति की आवश्यकता न

समझेंगे, तिथि त्यौहार पर कभी वह आ जाय या बुला लिया जाय तो बात दूसरी है। सर्व-धर्म-सन्मान करनेवाला अपने देवका और अपने शास्त्र का प्रतिदिन उपयोग करेगा पर दूसरे धर्म के देव या शास्त्र आदि का नहीं। हाँ, कभी कोई आकर दूसरे धर्म या देव का नाम पढ़ दे तो उसे असह्य न होगा बल्कि एक पाहुने के समान उसका आदर करेगा। साथ ही वह यह भी चाहेगा कि जैसे मै अपने देव शास्त्र आदि का उपयोग करता हूँ उसी प्रकार दूसरे को अपने का उपयोग करना चाहिये। वह एक हिन्दू से कहेगा "भाई, तुम सुबह शाम मन्दिर क्यो नहीं जाते या रामायण क्यों नहीं पढ़ते, आदि।" और मुसलमान से कहेगा "भाई, तुम नमाज़ क्यों नहीं पढ़ते, आदि।" यह सर्वधर्मसमादर या सर्वधर्मसन्मान है। बात

बहुत अच्छी है, सर्वधर्म-सहिष्णुता से ऊंची चीज़ है लेकिन पूरी नहीं है । महात्मा गाँधी इसे ही चाहते हैं, इसे ही वे सर्वधर्मसमभाव कहते हैं पर यह सर्वधर्मसमभाव नहीं है ।

सर्व-धर्म-समभावी में दूसरे धर्मों में परायेपन का भाव नहीं रहता, राम मेरे पिता, मुहम्मद पड़ौसी के पिता, रामायण मेरी, कुरान पड़ौसीका, यह बात नहीं रहती । वह तो राम और मुहम्मद को, गीता रामायण और कुरान को अपने ही कुटुम्ब में शामिल कर लेता है और योग्यता और सुविधा के अनुसार विवेक के साथ सब का उपयोग करता है। देशकाल के अनुसार अगर उसको नई भाषा या नये रूप की ज़रूरत मालूम होती है तो भी उस नये रूप में सभी का मिश्रण रहता है, सभी को स्थान रहता है । सर्व-धर्म समभावी हिन्दू होने के

साथ मुसलमान ईसाई आदि भी होता है। वह बाहर से न तो पूरा हिन्दू होता है न पूरा मुसलमान न पूरा ईसाई, वह थोड़ा थोड़ा सब है। ज़रूरत होनेपर जो भी रूप मिल जाय उसी से वह अपना काम चला लेता है।

सर्व-धर्म-समभाव की भी दो श्रेणियाँ हैं, दोनों में तरतमता भी है पर दोनों ही सर्व-धर्म-समादर से ऊँची हैं। एक सर्व-धर्म-समभावी ऐसा होता है जो राम को अपना बाप समझता है तो ईसा मुहम्मद आदि को चाचा समझता है, ईसा या मुहम्मद को बाप समझता है तो राम कृष्ण आदि को चाचा समझता है पर अपने घर के बाहर की चीज़ नहीं समझता उन्हें पाहुना नहीं समझता, उनके विषय में अपनी ज़िम्मेदारी—कौटुम्बिक उत्तर दायित्व—का अनुभव करता है, भोजन करने बैठते

है तो बाप के साथ चाचा को भी बुला लेता है उनका ख़याल रखता है, बाप के साथ जो विशेष आत्मीयता है उसके प्रदर्शन में कुछ संकोचसा करता है। इस सर्व-धर्म-समभाव मे एक बात का कुछ विशेष पक्ष है इसलिये इसे पाक्षिक सर्व-धर्म-समभावी कहते है।

पर सर्व-धर्म-समादरी से यह ऊँचा है क्योंकि सर्व-धर्म-समादरी अगर राम को बाप कहता है तो मुहम्मद को अपना चाचा नहीं समझता, पड़ौसी का बाप समझता है। प्रतिदिन भोजन करते समय अपने बाप की उपस्थिति में सन्तुष्ट है, पड़ौसी के बाप की उपस्थिति उसे ज़रूरी नहीं मालूम होती, उसकी चिन्ता पड़ौसी को करना चाहिये-यहीं तक उस की उदारता है।

इस दृष्टान्त के अनुसार पाक्षिक सर्व-धर्म-समभावी अगर हिन्दू है तो राम का गीत पहिले गायगा पर पीछे ईसा मुहम्मद आदि के भी गायगा गीता का उपयोग कुछ पहिले या अधिक करेगा पर बाइबिल या कुरान का भी करेगा, उसकी प्रार्थना में हिन्दू के सिवाय दूसरों की चीज़े अनुपस्थित न रहेंगी। इसका परिणाम यह होगा कि धीरे धीरे सब धर्म एक ही धर्म के अविच्छेद्य अंग या रूप बन जायँगे, जैसे शैव वैष्णव आदि हिन्दू धर्म के अंग या रूप बन गये हैं।

पाक्षिक धर्म-समभाव की यह महान सफलता इतिहास के पन्नों में जगमगा रही है, उसकी चमक हम आज भी देख रहे हैं. विविध संस्कृतियों, विविध धर्मों और विविध देवों के समन्वय से बनी हुई विशाल हिन्दू संस्कृति आज भी मरी नहीं है,

उसमें नये को पचाने की शक्ति नहीं रही इसीलिये वह आज अपर्याप्त है पर सांस्कृतिक समन्वय की महान सफलता का सन्देश देने के लिये या उसकी तरफ उँगली दिखाने के लिये आज भी समर्थ है।

इसी के मार्ग पर तो हिन्दू मुसलमान ईसाई आदि धर्मों के मिश्रण से फिर ऐसे ही किसी महान धर्म का जन्म हो सकता है। उस समय शैव वैष्णव की तरह हिन्दू मुसलमान ईसाई व्यवहार में एक धर्म के नाना रूप के समान अभिन्न हो जायँगे। यह पाक्षिक सर्व-धर्म-समभाव का फल है पर यह भी महात्मा गाँधी को पसन्द नहीं है। इस पाक्षिक सर्व-धर्म-समभाव को भी वे अपने जीवन में उतारना नहीं चाहते।

इससे भी विकसित सर्व-धर्म-समभाव वह है जिसमें किसी महापुरुष में बाप और चाचा बराबर भी भेद नहीं रक्खा जाता । सभी महा पुरुषों मे एक सरीखी आत्मीयता रक्खी जाती है, जैसे हिन्दुओं में पंच देवोपासक आदि बनकर नैष्ठिक धर्म-समभाव का एक छोटा सा रूप बनाने की कोशिश की गई थी । आज इसी बात को हिन्दू मुसलमान ईसाई बौद्ध जैन पारसी आदि सब के धर्मों को मिलाकर करना चाहिये ।

खैर, पाक्षिक और नैष्ठिक सर्व-धर्म-समभाव में बहुत अन्तर नहीं है। दोनो में सभी धर्म और सभी महात्मा आदि अपने कुटुम्बी समझ लिये जाते हैं, पड़ौसी का सा भेद नहीं रहता। महात्मा गाँधी जी के पास इन दोनों में से कोई भी सर्व-धर्म-समभाव

दिखाई नहीं देता, बहुत से बहुत सर्व-धर्म-समादर दिखाई देता है।

सर्व-धर्म-समादर भी अच्छी बात है और आज के ज़माने में उसकी तारीफ भी की जा सकती है पर उससे हमारे राष्ट्र की समस्या स्थायी रूप में हल नहीं हो सकती-उसके लिये तो सब का समन्वय करना ज़रूरी है और उस समन्वय का व्यावहारिक रूप जीवन में उतारना ज़रूरी है। दुःख है कि म. गाँधी जी में यह बात नहीं है।

जिस व्यक्ति को राष्ट्रीय नेतृत्व मिला है, और सारे राष्ट्र की जिस पर नज़र है, जो ऐसी संस्था का मुखिया है जो राष्ट्र के सभी धर्म के लोगों का प्रतिनिधित्व करती है, उसके जीवन में सर्व-धर्म-समभाव का पाक्षिक रूप भी न हो, सिर्फ़

सर्व-धर्म-समादर हो तो इससे स्थायी राष्ट्रीय एकता पैदा नहीं हो सकती। एक तरह से यह राष्ट्र का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है।

मैंने म. गाँधी के विचार अपनी समझ में ठीक ही रक्खे है फिर भी पाठकों को सन्देह न रहे इसलिये कुछ संस्मरण देना ठीक होगा।

मुझे म. गाँधीजी और गांधीवादी संस्थाओं की प्रार्थना भोज आदि में सम्मिलित होने का अवसर मिला है। प्रार्थनाएँ तो पवित्र हैं पर सर्व-धर्म-समभाव की दृष्टि से मेरे हृदय को धक्का ही लगा है। कुछ का उल्लेख कर दूं।

१-भोजन के प्रारम्भ में एक वेदमंत्र पढ़ा जाता है। मंत्र का अर्थ बुरा नहीं है, पर सर्व-धर्म-समभावी नियम रूपमें पढ़ने के लिये वेद मंत्र

ही क्यों चुनेगा ? वह तो हिन्दुस्तानी आदि लोक भाषा में अपने मंत्र बनायगा अथवा एकाध मंत्र वेद का और एकाध कुरान आदि का रक्खेगा। समभावी मनोवृत्ति एक तरफ़ को नहीं झुक सकती।

२–प्रार्थना के बहुभाग में संस्कृत गीता पढ़ी जाती है। समभावी को संस्कृत भाषा का इतना मोह क्यों होगा ? गीता ही पढ़ना है तो वह हिन्दुस्तानी में पढ़ेगा या प्रान्त के अनुसार प्रान्तीय भाषा मे पढ़ेगा, संस्कृत हिन्दू धर्म की मूल भाषा है तो रहे, समभावी को उसका पक्षपात न होगा। अपने मोह के कारण जनता के ऊपर वह व्यर्थ का बोझ न लादेगा। पचीस वर्ष से ऊपर का समय मैंने संस्कृत के सम्पर्क मे बिताया है, संस्कृत में पद्य-रचना भी की है (जिसे कि अपनी भूल समझ कर छोड़ दिया) पर अभी भी

मैं यह दावा नहीं कर सकता कि कोई नयी संस्कृत रचना सुनकर मैं हिन्दी की तरह से साफ़ और जल्दी समझ लूँगा। निःसन्देह यह मेरी संस्कृतज्ञता की त्रुटि है पर मेरे समान त्रुटिपूर्ण संस्कृत जानने वाले भी देश में कितने निकलेंगे? जब मैं छोटी छोटी लड़कियों को भी संस्कृत के श्लोक बोलते हुए सुनता था तो खेद से चकित हो जाता था। भला जिस भाषा को लड़कियाँ समझती नहीं उसको रटवाने से क्या फ़ायदा? म. गाँधीजी सरीखे व्यक्ति में यह भाषा-मोह देखकर मुझे सचमुच आश्चर्य और वेदना हुई।

३-प्रार्थना में गीता रामायण तथा ऐसे ही कुछ हिन्दू भजन पढ़े जाते हैं। हाँ, अगर कोई अल्लाह या यीशु का गीत पढ़ दे तो वह सह लिया जायगा बल्कि उसका आदर भी कर लिया जायगा।

यह ठीक भी है क्योंकि मेहमान को निमन्त्रण दिया हो या न दिया हो पर जब वह आ ही जाय तब उसका आदर सन्मान करना ही चाहिये, पर यह सर्व-धर्म-समादर है, सर्व-धर्म-समभाव नहीं। समभावी की प्रार्थनाओं में तो ईश्वर अल्लाह गॉड वेद कुरान पुरान बाइबिल आदि बहुत कुछ आयगा। एक दिन में न आयगा तो क्रम क्रम से कई दिनों में आयगा।

४—प्रार्थना में प्रतिदिन क्रम क्रम से थोड़ी थोड़ी तुलसी रामायण पढ़ी जाती है। रामायण में से कुछ चुने हुए भाग पढ़े जायें तो कोई हर्ज नहीं है पर रामायण तो एक महाकाव्य है उसमें बहुत सा भाग ऐसा है जो प्रार्थना के समय उपयोगी नहीं है। रामायण के विषय में श्रद्धा हो इसलिये भले ही उसे कोई पढ़े पर समभावी तो

उसमे से खास खास स्थल चुनकर रक्खेगा, साथ ही कुछ अन्य धर्मों के महाकाव्यों का भी उपयोग करेगा।

५–सेवाग्राम में म.जी की कुटी की दीवारोंपर मुझे 'ॐ' बना हुआ मिला। समभावी के यहां 'ॐ' के सिवाय कुछ और भी मिलना, अथवा भारतमाता, तिरंगा झंडा आदि ही मिलता।

इन पाँचो बातो के बारे में कहा जा सकता है कि म. गाँधी की य व्यक्तिगत बातें हैं, व्यक्तिगत अधिकारों का उपयोग करने में क्या बुराई है।

जहाँ तक अधिकार का सवाल है वहाँ तक कुछ नहीं कहा जा सकता। एक आदमी सर्वधर्म-समादर भी न रक्खे तो भी यह उसके अधिकार की बात है। एक आदमी अपने धर्म को ही समझे और दूसरे धर्मों को पाखंड और पाप का

पर समझ सिर्फ़ विरोध-प्रदर्शन में कानून का भंग न करें तो यह भी उसके अधिकार के भीतर की बात है। अधिकार के भीतर रहना बहुत कठिन नहीं है, सौ में नब्बे आदमी रहते हैं पर म. गाँधी तो करोड़ों में एक हैं इसीलिये उनकी ज़िम्मेदारी मामूली नागरिक से करोड़ गुणी अधिक है, वे राष्ट्रीयता के क्षेत्र में आज के सर्व-श्रेष्ठ नेता हैं इसलिये सवाल उठता है कि क्या वे उसके अनुरूप सर्व-धर्म-समभावी हैं? क्या वे सर्व-धर्म-समभाव के आदर्श कहे जा सकते हैं! इसका उत्तर 'नहीं' में ही देना पड़ता है।

दुःख तो इस बात का है कि वे सर्व-धर्म-समादर से अधिक सर्वधर्मसमभाव के रूपको पसन्द भी नहीं करते। अभी उस दिन की बात है, लक्ष्मीनारायण मन्दिर में मेरा प्रवचन हुआ।

था, सेवाग्राम से भी कुछ सज्जन सुनने आ गये थे। दूसरे दिन महात्माजी से उनने कहा—"बापू, कल दरबारीलालजी ने कहा कि 'हिन्दू को आधा मुसलमान होना चाहिये, मुसलमान को आधा हिन्दू; हिन्दू नमाज़ भी पढ़ें, मुसलमान पूजा भी करें—सो बापू! यह कैसे हो सकता है? मुझे तो आप का समभाव ही ठीक मालूम होता है कि हिन्दू पूजा करे मुसलमान नमाज पढ़े। हाँ, सब एक दूसरे का आदर करें।"

महात्माजी ने कहा—हाँ, मैं तो यही ठीक समझता हूँ कि हिंदू हिंदू रहें मुसलमान मुसलमान, दोनों कैसे मिल सकते हैं? आदि।

ठीक शब्द क्या थे—यह तो नहीं कहा जा सकता पर भाव यही था। (यह कोई गुप्त बात

नहीं है इसलिये यहाँ मैंने लिख दी अन्यथा इस जगह मैं न लिखता) इससे साफ़ मालूम हो जाता है कि म. गाँधीजी वैसी राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं करना चाहते जैसी कि एक दिन शैव वैष्णव आर्य अनार्य आदि के सम्मिश्रण से बनी थी, और आज जिसका नवीन संस्करण हिन्दू मुसलमान ईसाई आदि को मिलाकर करना चाहिये । अगर महात्मा गाँधीजी मे सर्वधर्मसमभाव होता तो बहुत सम्भव है कि हिन्दू मुसलमानों की समस्या इतनी जटिल न हो पाती । पर व्यक्तिगत जीवन की मामूली घटनाएँ या मनोवृत्ति का राष्ट्र के जीवन पर कितना विशाल असर पड़ता है, शताब्दियों के लिये राष्ट्रों का इतिहास कैसा बदल जाता है, इसके उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं, उन्हीं में यह उदाहरण और जुड़ रहा है । बहुत से

हृदय बड़ी वेदना के साथ इस बात को देख रहे हैं पर वे किंकर्तव्यविमूढ़ हैं।

नागयज्ञ के समालोचक भाई मॉफ़ करें, मेरे हृदय को भी वही वेदना जला रही है इसीसे मैं नागयज्ञ नाटक म. गाँधीजी को समर्पित न कर सका और उसे समर्पित करने के लिये अतीत में हज़ारों वर्ष घुसकर आस्तीक मुनि को ढूँढ़ना पड़ा।

५ प्रश्न-सब धर्मियों मे एकता हो इस निर्मल उद्देश्य से जो भी प्रयत्न होते हैं उनसे मेरी पूरी सहानुभूति रहने पर भी इस एकता का जो आधार माना जाता है—कि धर्म एक हैं, सभी धर्मों की शिक्षा एक है- उस आधार मे उतना विश्वास न होने से मुझे इस प्रकार के प्रयत्नों की आधार-शिला मज़बूत नहीं मालूम होती और उनकी सफलता में सन्देह ही है।

थ्योसोफ़ी, रामकृष्ण मिशन आदि के प्रयत्न इसी प्रकार असफल रहे हैं। उन्हें स्वयं एक नया धर्म बनने में सफलता हुई है। मुझे डर है कि आपकी नई दुनिया भी इसी प्रकार एक नया धर्म न बन जाए।

—एक प्रसिद्ध विद्वान बौद्ध भिक्षु

उत्तर-धर्म का रूप और कार्य क्या है इस विषय की विचार-सामग्री म. बुद्ध ने बहुत कुछ दी है। जब उनसे कोई (आनन्द आदि) धर्म के विषय में चर्चा करते समय परलोक आदि की चर्चा करने लगता तब वे शिकारी आदि का दृष्टान्त देकर यही कहते कि अगर बाण लगा है तो बाण किसने बनाया आदि विचार करने की अपेक्षा यह अच्छा है कि तुम बाण के घाव को देखो खून बन्द करने की चेष्टा करो आदि। इसी तरह

परलोक आदि का विचार करने की अपेक्षा यह अच्छा है कि चार आर्य सत्यों का विचार करो। दुःख क्या है, उसका कारण क्या है, उसका निरोध क्या है, उसका कारण क्या है?

ये ही चार आर्य सत्य हर एक धर्म की या धर्म-शिक्षा की आधार-शिला हैं। इन्हीं के लिये समय समय पर धर्मसंस्थाओं की स्थापना होती है। हर एक धर्म की शिक्षा इन्हीं का विवेचन है। हाँ, कोई इन्हें आश्रव बन्ध संवर निर्जरा आदि कहकर प्रतिपादन करते हैं, कोई पारिभाषिक नाम नहीं बनाकर इन्हीं का विवेचन करते हैं।

इन्हीं में व्यक्ति और समाज के दुःख, उनके कारण, दुःख दूर करके एक शान्त अवस्था और उसके कारण का विचार आ जाता है। ये ही

हर एक धर्मसंस्था के उद्देश्य है। हर एक धर्म-संस्था समाज और व्यक्ति के नैतिक विकास के लिये कोशिश करती है। हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, इसलाम आदि सभी मज़हबों में यही बात पाई जाती है। पर इस आधार-शिला को लोग भूले हुए हैं उसे आधार शिला की तरफ़ ध्यान जाने से यह दुनिया नई दुनिया बन सकती है।

इसमें सन्देह नहीं कि धर्मों में नैतिकता का उपदेश भी जुदी जुदी मात्रा में दिया गया है पर मात्रा का भेद परिस्थिति के कारण है इससे आधार-शिला नहीं बदलती। जैनधर्म, बौद्धधर्म और इसलाम की अहिंसा में मात्रा की अपेक्षा बहुत अन्तर होने पर भी तीनों का रुख अहिंसा की तरफ़ है।

हर एक धर्म-संस्था पुरानी कुरूढ़ियों का भंग करती है, नई परिस्थिति के अनुसार नये विचार और रिवाज अपनाने लायक विवेक जगाती है, यथा सम्भव लोगों को निःपक्ष बनाती है—इस प्रकार हर एक धर्मसंस्था के मूल में यथाशक्य सत्य की पूजा है। हर एक धर्मसंस्था प्रेम सेवा मनशुद्धि वचनशुद्धि आदि का सन्देश देती है इसलिये हर धर्मसंस्था के मूल में अहिंसा की पूजा है इस प्रकार सत्य और अहिंसा सभी धर्मों के मूल मे हैं इसलिये भी सब की आधार-शिला एक है। इस प्रकार आधार के भेद से यह प्रयत्न असफल होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। हाँ, मेरी अयोग्यता पुण्यहीनता आदि कारण हो सकते हैं।

थ्योसोफी आदि को असफल कहना विचारणीय है। वास्तव में इनके कार्यक्रम में सर्वधर्म-

घर समझ सिर्फ़ विरोध-प्रदर्शन में क़ानून का भंग न करे तो यह भी उसके अधिकार के भीतर की बात है। अधिकार के भीतर रहना बहुत कठिन नहीं है, सौ में नब्बे आदमी रहते हैं पर म. गाँधी तो करोड़ों में एक हैं इसीलिये उनकी ज़िम्मेदारी मामूली नागरिक से करोड़ गुणी अधिक है, वे राष्ट्रीयता के क्षेत्र में आज के सर्व-श्रेष्ठ नेता हैं इसलिये सवाल उठता है कि क्या वे उसके अनुरूप सर्व-धर्म-समभावी हैं? क्या वे सर्व-धर्म-समभाव के आदर्श कहे जा सकते हैं? इसका उत्तर 'नहीं' में ही देना पड़ता है।

दुःख तो इस बात का है कि वे सर्व-धर्म-समादर से अधिक सर्वधर्मसमभाव के रूपको पसन्द भी नहीं करते। अभी उस दिन की बात है, लक्ष्मीनारायण मन्दिर में मेरा प्रवचन हुआ

था, सेवाग्राम से भी कुछ सज्जन सुनने आ गये थे। दूसरे दिन महात्माजी से उनने कहा— "बापू, कल दरबारीलालजी ने कहा कि 'हिन्दू को आधा मुसलमान होना चाहिये, मुसलमान को आधा हिन्दू; हिन्दू नमाज भी पढ़ें, मुसलमान पूजा भी करें—सो बापू! यह कैसे हो सकता है? मुझे तो आप का समभाव ही ठीक मालूम होता है कि हिन्दू पूजा करे मुसलमान नमाज पढ़े। हाँ, सब एक दूसरे का आदर करें।"

महात्माजी ने कहा—हाँ, मै तो यही ठीक समझता हूँ कि हिंदू हिंदू रहें मुसलमान मुसलमान, दोनों कैसे मिल सकते है? आदि।

ठीक शब्द क्या थे—यह तो नहीं कहा जा सकता पर भाव यही था। (यह कोई गुप्त बात

नहीं है इसलिये यहाँ मैंने लिख दी अन्यथा इस जगह मैं न लिखता) इससे साफ़ मालूम हो जाता है कि म. गाँधीजी वैसी राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं करना चाहते जैसी कि एक दिन शैव वैष्णव आर्य अनार्य आदि के सम्मिश्रण से बनी थी, और आज जिसका नवीन संस्करण हिन्दू मुसलमान ईसाई आदि को मिलाकर करना चाहिये । अगर महात्मा गाँधीजी मे सर्वधर्मसमभाव होता तो बहुत सम्भव है कि हिन्दू मुसलमानों की समस्या इतनी जटिल न हो पाती । पर व्यक्तिगत जीवन की मामूली घटनाएँ या मनोवृत्ति का राष्ट्र के जीवन पर कितना विशाल असर पड़ता है, शताब्दियों के लिये राष्ट्रों का इतिहास कैसा बदल जाता है, इसके उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं. उन्हीं में यह उदाहरण और जुड़ रहा है । बहुत से

हृदय बड़ी वेदना के साथ इस बात को देख रहे है पर वे किंकर्तव्यविमूढ़ हैं।

नागयज्ञ के समालोचक भाई मॉफ़ करें, मेरे हृदय को भी वही वेदना जला रही है इसीसे मैं नागयज्ञ नाटक म. गाँधीजी को समर्पित न कर सका और उसे समर्पित करने के लिये अतीत में हज़ारों वर्ष घुसकर आस्तीक मुनि को ढूँढ़ना पड़ा।

५ प्रश्न-सब धर्मियो में एकता हो इस निर्मल उद्देश्य से जो भी प्रयत्न होते है उनसे मेरी पूरी सहानुभूति रहने पर भी इस एकता का जो आधार माना जाता है—कि धर्म एक हैं, सभी धर्मों की शिक्षा एक है--उस आधार में उतना विश्वास न होने से मुझे इस प्रकार के प्रयत्नों की आधार-शिला मज़बूत नहीं मालूम होती और उनकी सफलता में सन्देह ही है।

थ्योसोफी, रामकृष्ण मिशन आदि के प्रयत्न इसी प्रकार असफल रहे हैं। उन्हें स्वयं एक नया धर्म बनने में सफलता हुई है। मुझे डर है कि आपकी नई दुनिया भी इसी प्रकार एक नया धर्म न बन जाए।

—एक प्रसिद्ध विद्वान बौद्ध भिक्षु

उत्तर-धर्म का रूप और कार्य क्या है इस विषय की विचार-सामग्री म. बुद्ध ने बहुत कुछ दी है। जब उनसे कोई (आनन्द आदि) धर्म के विषय में चर्चा करते समय परलोक आदि की चर्चा करने लगता तब वे शिकारी आदि का दृष्टान्त देकर यही कहते कि अगर बाण लगा है तो बाण किसने बनाया आदि विचार करने की अपेक्षा यह अच्छा है कि तुम बाण के घाव को देखो खून बन्द करने की चेष्टा करो आदि। इसी तरह

परलोक आदि का विचार करने की अपेक्षा यह अच्छा है कि चार आर्य सत्यों का विचार करो। दुःख क्या है, उसका कारण क्या है, उसका निरोध क्या है, उसका कारण क्या है ?

ये ही चार आर्य सत्य हर एक धर्म की या धर्म-शिक्षा की आधार-शिला हैं। इन्हीं के लिये समय समय पर धर्मसंस्थाओं की स्थापना होती है। हर एक धर्म की शिक्षा इन्हीं का विवेचन है। हाँ, कोई इन्हे आश्रव बन्ध संवर निर्जरा आदि कहकर प्रतिपादन करते हैं, कोई पारिभाषिक नाम नहीं बनाकर इन्हीं का विवेचन करते हैं।

इन्हीं में व्यक्ति और समाज के दुःख, उनके कारण, दुःख दूर करके एक शान्त अवस्था और उसके कारण का विचार आ जाता है। ये ही

हर एक धर्मसंस्था के उद्देश्य हैं। हर एक धर्म-संस्था समाज और व्यक्ति के नैतिक विकास के लिये कोशिश करती है। हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, इसलाम आदि सभी मजहबों में यही बात पाई जाती है। पर इस आधार-शिला को लोग भूले हुए हैं उसे आधार शिला की तरफ़ ध्यान जाने से यह दुनिया नई दुनिया बन सकती है।

इसमें सन्देह नहीं कि धर्मों मे नैतिकता का उपदेश भी जुदी जुदी मात्रा में दिया गया है पर मात्रा का भेद परिस्थिति के कारण है इससे आधार-शिला नहीं बदलती। जैनधर्म, बौद्धधर्म और इसलाम की अहिंसा में मात्रा की अपेक्षा बहुत अन्तर होने पर भी तीनों का रुख अहिंसा की तरफ है।

हर एक धर्म–संस्था पुरानी कुरूढ़ियों का भंग करती है, नई परिस्थिति के अनुसार नये विचार और रिवाज अपनाने लायक विवेक जगाती है, यथा सम्भव लोगों को निःपक्ष बनाती है–इस प्रकार हर एक धर्मसंस्था के मूल में यथाशक्य सत्य की पूजा है । हर एक धर्मसंस्था प्रेम सेवा मनशुद्धि वचनशुद्धि आदि का सन्देश देती है इसलिये हर धर्मसंस्था के मूल मे अहिंसा की पूजा है इस प्रकार सत्य और अहिंसा सभी धर्मों के मूल मे है इसलिये भी सब की आधार-शिला एक है । इस प्रकार आधार के भेद से यह प्रयत्न असफल होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता । हाँ, मेरी अयोग्यता पुण्यहीनता आदि कारण हो सकते हैं ।

थ्योसोफी आदि को असफल कहना विचारणीय है । वास्तव में इनके कार्यक्रम में सर्वधर्म-

समभाव की प्रस्तावना ही रही है और प्रस्तावना बनाने में ये बहुत कुछ सफल भी हुई हैं। हाँ, आज के लिये ज़रूरी पूरी सफलता नहीं मिली इसका एक कारण यह है कि पूरे कार्यक्षेत्र पर इनका ध्यान नहीं था। जनसाधारण पचा सकें ऐसा कार्यक्रम भी इनका नहीं था। खैर, कारण अनेक हैं। इनने जितना काम किया उतने के लिये हमें इनका कृतज्ञ होना चाहिये और आगे बढ़ना चाहिये : दादाभाई नोरोजी के कृतज्ञ रह कर तिलक को पकड़िये, तिलक के कृतज्ञ रहकर गांधी को पकड़िये, गांधी के कृतज्ञ रहकर आगे बढ़िये। अभी तक स्वराज्य नहीं मिला इसलिये आगे भी न मिलेगा ऐसी निराशा न लाइये। हिन्दुस्थान ने पहिले स्वतन्त्रता का उपयोग किया है आगे भी करेगा। हिन्दुस्थान ने आर्य अनार्य

शैव वैष्णव आदि संस्कृतियों और धर्मों का पहिले समन्वय किया है और आगे भी करेगा।

सत्यसमाज पूरी सफलता पाये या न पाये नया धर्म बने या न बने पर नुकसान किसी भी हालत में नहीं है। पूरी सफलता न मिली तो आगे आनेवाले किसी अन्य पथ-प्रदर्शक के लिये कुछ सहारा देगा, आनेवाले माली के लिये फूलों के पौधे नहीं तो अच्छी जमीन तथा खाद देगा। सफलता मिली तो ठीक ही है।

नया धर्म न बने और सफल हो जाय तब तो कहना ही क्या है पर नया धर्म बनकर रह जाय तब भी हानि नहीं है। सत्यसमाज संस्कृति और धर्म से जो समभाव चाहता है तथा जनहित के अनुकूल जो समाजहित चाहता है मनुष्य को कुछ अधिक निःपक्ष और विचारक बनाना चाहता

ह युग के अनुरूप ढालना चाहता है, इसका लाभ अगर थोड़े से आदमियों ने ही उठापाया तो भी फ़ायदा है। सत्यसमाज में आने पर लोगों में कट्टरता कुछ घट ही जायगी बढ़ेगी नहीं। इतना लाभ भी क्या बुरा है? सफलता के विषय में मैं यह सोच लेता हूँ कि अगर मेरे मरने के बाद मेरे विचार के दो आदमी भी रहे तो समझूँगा कि एक का नफ़ा है।

सत्यसमाज में अगर कुछ अच्छाई है तो इसका लाभ थोड़े उठायेंगे या बहुत, वे संगठित होकर उठायेंगे या असंगठित, हर हालत में मानव समाज को लाभ ही है। उस लाभ का मूल्य कितना भी कम हो पर मेरे जीवन-मूल्य से अधिक ही होगा। आख़िर मुझ सरीखे एक आदमी के जीवन का मूल्य ही क्या है!

सत्यसमाज असम्भव या अहित के लिये प्रयत्न नहीं करता है ऐसी हालत में जितनी जैसी भी सफलता मिले उतने से ही सन्तोष करना चाहिये और जिससे जितना बन सके उतना हाथ लगाना चाहिये। पूर्ण सफलता न किसी ने पाई है, न कोई पा सकेगा।

६ - प्रश्न-'मैं धर्मों के बाह्याडम्बर को इतना महत्त्व देने से सहमत नहीं हूं जितना आपने अपने आश्रम में दिया हुआ जान पड़ता है। मुझे आश्रम का प्रत्यक्ष ज्ञान तो नहीं है, हो सकता है मैं भूल में होऊँ, लेकिन जो वर्णन पढ़े हैं उनका मुझ पर यही असर पड़ा है।'

- एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र के सम्पादक।

उत्तर-सत्याश्रम में एक धर्मालय है जिसमे प्रायः सभी मुख्य मुख्य धर्मों की मूर्तियाँ चित्र या पुस्तकें

हैं, सुबह शाम समभावी प्रार्थनाएं पढ़ी जाती हैं। पूजा की न तो कोई खास विधि की जाती है न हवन आरती आदि का आयोजन। सब धर्मों के महात्माओं के जन्म-दिन पर प्रवचन किया जाता है। इसके सिवाय और कोई बाह्यक्रिया नहीं है। बहुतों को इसमें धार्मिक क्रियाओं का अभाव सा मालूम होता है और बहुतों को धर्मालय का बनाना ही आडम्बर मालूम होता है।

जिनको धार्मिक क्रियाओं का अभाव सा मालूम होता है उनसे मेरा कहना यह है कि धर्मालय किसी निर्दोष क्रिया का विरोध नहीं करता। धर्मालय में पशु आदि की बलि नहीं दी जा सकती, गंदगी नहीं फैलाई जा सकती और न दो क्रियाओं का संघर्ष किया जा सकता है, बाकी हर तरह की क्रिया के लिये गुंजायश है।

बहुत सी क्रियाएं जिन्हे दैनिक कार्यक्रम में स्थान नहीं है वे भी कोई करना चाहे तो कर सकता है। जैसे कोई आरती करना चाहे, जैनियों की तरह द्रव्य-पूजा करना चाहे, मुसलमानों की तरह नमाज़ पढ़ना चाहे, नारियल आदि चढ़ाना चाहे, आदि क्रियाएं की जा सकती है दैनिक कार्यक्रम में जो सिर्फ़ प्रार्थना रक्खी गई है उसका कारण यह है कि इसमें सभी लोग सुभीते से भाग ले सकते है और मनभावी प्रार्थनाओं से बहुत कुछ सीख सकते हैं। अन्य धार्मिक क्रियाएं तो कुछ अटपटी सी मालूम होती है पर प्रार्थना में अटपटापन नहीं मालूम होता है।

जो धर्मालय की रचना और प्रार्थना को भी आडम्बर समझते है उनसे मेरा कहना है कि मेरी समझ मे निरर्थक या छलपूर्ण क्रियाकांड ही

आडम्बर है, प्रार्थना में न तो निरर्थकता है न छल है और यही बात धर्मालय के विषय में भी कही जा सकती है।

यह ठीक है कि आजकल धर्मस्थान और उनके भीतर होनेवाली क्रियाएँ आडम्बर बनी हुई है पर धर्मस्थानो को और उनकी क्रियाओं का तिरस्कार कर देने से वे न उठ जायँगे, और न उनके विकार दूर होंगे। इसके लिये ऐसे धर्मस्थान बनाना होंगे जो निराडम्बरता और उपयोगिता में दूसरे धर्मस्थानो के लिये आदर्श बन सकें। धर्मालय यह करता है।

धर्मालय और आडम्बरहीन क्रियाओ की एक और उपयोगिता है। वह यह कि जब तक हमारे पास हृदय है कुछ भावना है तब तक उस पर स्मारकों और क्रियाओ का असर पड़ता ही

है। कांग्रेस आदि राजनैतिक संस्थाओं में झंडा-वन्दन, प्रभातफेरी, जुलूस आदि की ज़रूरत रहती है। जो बिल्कुल नास्तिक कहलाते हैं उनके यहां भी चित्त को खींचनेवाली कोई न कोई चीज़ मिल जायगी कोई न कोई व्यवहार मिल जायगा। अगर हम सर्वधर्मसमभाव को अपनाना चाहते हैं तो हमें उसके लिये कुछ धार्मिक व्यवहार भी बनाना होगा।

इस देश में जब कि धर्म के ऐकान्तिक रूपों का खूब ही चलन है तब उनमें व्यापक दृष्टि भरने के लिये धर्मालय की ओर कुछ समभावी क्रियाओं की अत्यन्त आवश्यकता है।

७—प्रश्न - भोजन से पेट भरा होने से फिर भोजन अप्राकृतिक, अव्यवहार्य व अत्यन्त मुश्किल है, मगर प्रार्थना से पेट भरना, एक दफा करने पर फिर तुरन्त करने की आवश्यकता न होना यह

संगत बात नहीं लगी । आदरास्पद सत्यभक्तजी ऐसे दृष्टांतों पर पुनः विचार करेंगे। भोजन प्रार्थना एक कोटि में नहीं रखा जाना चाहिए, ऐसी हमारी समझ है । —एक साप्ताहिक पत्र के सम्पादक

उत्तर– पेट की अजीर्णता और मन की अजीर्णता मे अन्तर अवश्य है फिर भी इतना अवश्य है कि भरपूर खुराक पा लेने पर मन ऊब जाता है उसमें अरुचि पैदा हो जाती है वह थक जाता है और वहां से भागकर कोई नई जगह जाना चाहता है । जब तक हमारा यह विचार है कि राममन्दिर में जो प्रार्थना होती है उसमें एक ईश्वर की प्रार्थना की जाती है और मसजिद में किसी दूसरे की, तब तक प्रार्थना और नमाज़ बिलकुल जुदी जुदी चीज़ रहेगी, इससे प्रार्थना के बाद नमाज़ मे और नमाज़ के बाद

प्रार्थना में मन को नई खुराक मिलेगी पर इससे जो ईश्वर के विषय में द्वैतभाव पैदा होगा वह ऐसा कुफ्र होगा जो दुहरी प्रार्थना के पुण्य को नष्ट कर एक स्थायी पाप पैदा करेगा। अगर हम समझते हैं कि ईश्वर और खुदा, प्रार्थना और नमाज़ एक है तो एक के करने पर दूसरे की जरूरत न तो ईश्वर के लिये रह जाती है न अपने लिये। मैंने जो सच्चा मुसलमान शीर्षक छोटासा सम्वाद लिखा था वह इसलिये कि लोग पूजा और नमाज़ की एकता समझें, मानें और उसे व्यवहार में लावें।

हां, अगर द्वैतभाव न हो और पूजा करने के बाद भी कुछ समय इसी की तरफ़ लगाने की प्यास रह गई हो तो पूजा या नमाज़ की जा सकती है। अथवा पूजा या नमाज के सामूहिक रूपमें जो सम्मिलन की उपयोगिता है उस दृष्टि से

भी की जा सकती है पर जहां समय न हो सामाजिक उपयोगिता भी न हो वहाँ एक धर्म की प्रार्थना करके फिर अपने धर्म की प्रार्थना करना दूसरे धर्म की प्रार्थना को छोटा करार देना है। सच्चा मुसलमान या सच्चा हिन्दू पूजा में नमाज़ और नमाज़ में पूजा देखेगा, साधारणतः एक के बाद उसे दूसरे की जरूरत नहीं रहेगी। अगर हम सचमुच सर्वधर्मसमभावी बने तो पूजा नमाज की अभिन्नता को व्यावहारिक रूप देना ज़रूरी है। इसमें हम ईश्वर के जितने पास पहुंचेंगे उतने पास पूजा के बाद घंटों नमाज और नमाज़ के बाद घंटों पूजा करने पर भी न पहुंचेंगे। सच्चा मुसलमान शीर्षक संवाद पूजा या नमाज पर उपेक्षा नहीं कराता पर एक दूसरे के दिलों को मिलाता है और हमारे सर्वधर्मसमभाव की सच्चाई प्रमाणित करता है।

८-प्रश्न--सब विचारों का जनक सत्यसमाजकी स्थापना और वह भी एक संस्था के रूपमें कैसे कर सकते हैं यह मेरी समझ मे नहीं आता ?

आप एक सत्य वस्तुका प्रचार करें किन्तु उसके ऊपर कोरे नामकी छाप लगाने की क्या ज़रूरत है ?

मेरी समझ में नहीं आता कि 'अहिंसा' की बात पर भी सत्यसमाज की छाप क्यों लगायी जाय ?

संस्था के साथ जब अहम् मिलता है, तब दूर जाकर वही संस्था एक संप्रदाय बन जाती है और संघर्ष का कारण भी मोल लेती है--आज के संप्रदाय इसी तरह संघर्षशील बनते गये हैं ।

सत्यका आप उपदेश करें पर सत्याश्रम जैसे तीर्थस्थान की क्या ज़रूरत है ? सर्वधर्म-

समभाव के लिये आप कोशिश करें किंतु सर्व संप्रदाय की मूर्तियाँ एक जगह पर रखकर तीर्थ-स्थान बनाने की क्या ज़रूरत है !

कोई एक सच्चाई को आप प्रचलित करें, अंधकार में गिरी हुई जनता का आप पथ-प्रदर्शन करें किन्तु वह सच्चाई कोई भी क़िस्मकी छाप लगवाए बिना भी सच्चाई रह सकती है ।

आपके विचारों का क़ायल होते हुए भी मुझे यह बात खटकती है कि इस ग़रीब देश में और एक सम्प्रदाय बढ़ाने में आप क्यों सहायभूत हो रहे है ? —एक गुजराती लेखक

उत्तर-सर्वधर्मसमभाव और सर्वजातिसमभाव और समाज-सुधार के तीन मुद्दे जिन्हें मैं हर मनुष्य के जीवन में देखना चाहता हूँ उनके लिये एक समाज की आवश्यकता है ।

आज इन बातों को कोई आदमी अपने जीवन में उतारना चाहे तो उसे अपने समाज में रहना मुश्किल हो जायगा और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाजहीन बनकर नहीं रह सकता।

लाखों आदमी ऐसे हैं जो इन तीनों बातों को चाहते हैं पर अकेले होने के डर से उन्हे जीवन में नहीं उतार पाते और लाखों ऐसे हैं जिनकी बुद्धि इन तीनों बातों को मंजूर करती है पर वे उदारता का क्षेत्र बातों तक ही रखना चाहते है, वे नहीं चाहते कि इसके लिये हमे अपने समाज से थोड़ा भी अलग होना पड़े। वे सत्यसमाज में न आने पर अपने सम्प्रदाय या समाज का मोह छोड़ कर, उससे उतना ही सम्बन्ध रख कर जितना दुनिया के किसी सम्प्र-

द्वाय या समाज से रक्खा जा सकता है, मानव-समाज में तो आवें। पर मैंने देखा है कि ऐसे लोग उदारता की ऊँची बाते करके भी अपने घर के बाहर पैर नहीं रखते हैं। पत्नी माता-पिता या परिस्थिति की ओट मे उनका संकुचित सम्प्रदाय और समाज सुरक्षित रहता है। वे यह संकुचित सुरक्षितता नहीं छोड़ना चाहते इसलिए सत्यसमाज सरीखे किसी प्रयत्न का विरोध करते हैं क्योंकि सत्यसमाज उन तीनों बातों का सिर्फ़ विचार नहीं माँगता आचार भी माँगता है और आचार उन के पास है नहीं। ऐसे लोगों के कारण वे लोग भी आगे नहीं आपाते जो सचमुच उदार अर्थों में मनुष्य बनना चाहते हैं। ऐसे लोगो को अवलम्बन देने के लिये, उक्त तीनो सिद्धान्तों का सरलता से पाठ पढ़ाने के लिये, एक संगठन द्वारा इस

आवाज़ को ऊँची करने के लिये, एक समाज की आवश्यकता है।

जो लोग निःपक्ष हैं, जिज्ञासु हैं जिन्हें सचमुच डर है कि सत्यसमाज सम्प्रदाय बनकर कोई अनर्थ न करदे वे आज नहीं तो कल सत्यसमाज या ऐसी ही किसी अन्य संस्था की उपयोगिता स्वीकार करेंगे।

उन्हें यह बात समझ लेना पड़ेगी कि हमारी बात निर्दोष है इसी लिये दुनिया न सुन लेगी। उसके कान में आवाज तब जायगी जब हमारी बात के पीछे व्यावहारिकता की परीक्षा में उत्तीर्णता का बल होगा एक संगठन होगा। समाज-क्रान्ति फिर चाहे उसका रूप जातीय राष्ट्रीय या धार्मिक कैसा भी क्यों न हो तबतक नहीं हो सकती जबतक एक संगठन उस के पीछे न आजाय।

यही कारण है कि महावीर बुद्ध ईसा मुहम्मद नानक कबीर दयानन्द आदि को एक संगठन बनाना पड़ा। इन ने मानव-समाज की दिशा बदल दी है। बिना संगठन का बीज डाले अगर वे सिर्फ बातें ही करते रहते तो शायद वे पुजपाते पर दुनिया को क्या दे पाते ? बहुत कम दे पाते। सुकरात बहुतों से महान थे पर ईसा मुहम्मद जो दे सके वह वे न देसके। कुछ ऐसे लोग हैं जो अपने जीवन में संगठन नहीं कर पाते पर ऐसे आदमी छोड़ जाते हैं जो संगठन कर लेते हैं। कुछ ऐसे हैं जो संगठन का बीज नहीं छोड़ पाते, वे अपनी स्मृति रख जाते हैं। उन से बहुत कम लाभ होता है। वे एक लेखक कवि के रूप में रहते हैं, अथवा जैसे जैनियों के सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली में जो फ़र्क है वैसा फ़र्क

उन में रहता है । कुछ ऐसे हैं जो अगर बहुत दिन जीवित रहते तो अवश्य कोई संगठन बनाते। इसलिये किस ने संगठन किया, किस ने नहीं किया यह विचार व्यर्थ है । जिस की जैसी परिस्थिति और शक्ति और पूँजी थी उस ने वैसा किया ।

अगर हमारी बातों में सच्चाई है, उसे जीवन में उतारना है तो या तो हमें अपनी रुचि के अनुसार कोई संगठन चुन लेना चाहिये और उस में प्राण डालना चाहिये अथवा अगर कोई संगठन न मिले तो नया संगठन करना चाहिए या नये संगठन में हाथ बटाना चाहिये । मानव-समाज को सुराह पर लाने के लिये यह एक पहिली और ज़रूरी बात है ।

पुराने लोगों ने यही किया। अगर आज उसका दुरुपयोग हो रहा है तो यह स्वाभाविक है। सफलता के बाद हरएक चीज़ विकृत होती है और अन्त में नष्ट होती है। आज जैनसमाज विकृत है इस लिये म० महावीर का यत्न निरर्थक नहीं कहा जा सकता, न मुसलमानों को देख कर मुहम्मद साहिब की कोशिश को व्यर्थ कहा जा सकता है।

इस बारे में हमारा सिर्फ़ यही कर्तव्य है कि जिन कारणों से जैसा विकार आया उन कारणों से दूर रहने की, जहाँ तक बन सके, कोशिश करें। सत्यसमाज में यही किया जा रहा है। हज़रत मुहम्मद साहब ने सर्वधर्मसमभाव पर बड़ा ज़ोर दिया पर वहां की परिस्थितिवश उन्हें मूर्तिपूजा का विरोध करना पड़ा। फल

यह हुआ कि मुसलमान लोग सिद्धान्त से सर्वधर्म-समभावी रहने पर भी व्यवहार में उस चीज को न ला सके, वे दूसरो के धर्मस्थानो का आदर न रख सके । किस बात के कारण इन धर्म संस्थाओं की किन बातों का दुरुपयोग हुआ, इसका काफ़ी विचार करके सत्यसमाज की रूप-रेखा बनाई गई है । फिर भी यह निश्चित है कि कोई संस्था सदा के लिए पवित्रता का ठेका नहीं ले सकती, उसका विकृत होना और मरना अवश्यम्भावी है । एक आदमी से उसकी उमर ज्यादह हो सकती है पर पैदा होना बढ़ना बूढा होना बीमार होना और मरना येपांच बाते संस्था के साथ भी लगी रहती है जो सत्यसमाज में भी होंगी । पर बीमार होने या मरने के डर से जैसे आदमी का जन्म बुरा

नहीं कहा जा सकता इसी प्रकार संस्था का जन्म भी बुरा नहीं कहा जा सकता।

रही नाम की बात, सो दुनिया नामरूपात्मक है। एक छोटीसी किताब का नाम होता है, एक स्कूल का नाम होता है, देश राज्य का नाम है, कांग्रेस, मुसलिम लीग, गाँधी सेवा संघ, सब नाम है, हमारा तुम्हारा भी नाम है। हम तुम रहे नाम क्यों रक्खे? संस्थाएँ रहें, नाम क्यो न रक्खें? ऐसा सवाल व्यर्थ है। नाम रुक जाने पर व्यवहार रुक जायगा। वह और कुछ नहीं, व्यवहार का सुभीता है।

मूर्ति वगैरह रखने का कारण कुछ ऊपर कह दिया है। इस के बिना सर्वधर्मसमभावी वातावरण बनाना असंभव है। एकाध व्यक्ति अप-वाद के रूप में ऐसा बने यह दूसरी बात है

पर ऐसे सिद्ध महात्माओंसे दुनिया नहीं बनती है। दुनिया में बीमार रहते हैं उन्हें दवा चाहिए, बच्चे रहते हैं उन्हें चित्र चाहिये।

सत्य अहिंसा त्याग प्रेम आदि को समझते हुये भी हम उसकी कहानी पढ़ते हैं, कहानी पढ़करभी सिनेमा देखते हैं, दिल मे तसवीर खिंची रहने पर भी कागज़ की तसवीर कमरे में लटकाते है, राष्ट्रीयता से ओतप्रोत होने पर भी झंडा-वदन करते है ? यह सब क्यों ? क्यो कि हमारे पास दिल है, उसेंम प्यास है, साथ ही कमज़ोरी है जिससे हम सहारा चाहते है और यह भी चाहते हैं कि इस बहाने से हम अनेक बनें, संगठित बनें। सत्याश्रम इसी लिये तीर्थस्थान बनना चाहता है। वह बने या न बने पर उस के बनने की ज़रूरत है।

सत्यसमाज की अहिंसा आदि शब्दों का सीधा अर्थ है। वह यह कि उस के द्वारा उपस्थित किए विचार। गाँधीजी की अहिंसा का अर्थ है गाँधीजी के द्वारा उपस्थित किया गया अहिंसा विषयक विचार। 'सत्यसमाज की अहिंसा' 'जैनधर्म की अहिंसा' आदि शब्दों का अर्थ यही है कि उन ने अहिंसा के विषय मे जो व्यावहारिक योजना बनाई उस का रूप। आप ही इस पत्र में एक जगह लिख गए हैं 'मुंशीजी की अहिंसा'। अगर अहिंसा पर मुंशीजी की छाप लग सकती है तो क्या गाँधीजी और सत्यसमाज की छाप नहीं लग सकती है? शायद अंग्रेज़ी में ऐसा ईडियम नहीं हो पर हिंदी में है। यह तो सिर्फ़ भाषाका–व्याकरण का–सवाल कहलाया। इस से इतना डर क्यों?

अहं की बात अवश्य है पर अहं के बिना आदमी खड़ा कैसे रह सकता है। सांख्य दर्शन के अनुसार पंचभूत के पैदा होने के पहिले अहं पैदा हो गया था, सृष्टि बाद में हुई। अहं तो ज़रूरी है, पर वह मनुष्य जीवन मे दो तरह का दिखाई देता है। एक यह कि जो सच वह मेरा, दूसरा यह कि जो मेरा वह सच। पहिला अहं अच्छा है ज़रूरी है, दूसरा पाप है। सत्यसमाज में अभी दूसरा अहं नहीं है। सत्यसमाज की अहिंसा अहं से निश्चित नही की गई। वह अहिंसा तो वही है जो अनेकान्त रूप है, व्यापक है, व्यावहारिक है जिसे हिन्दूधर्म जैनधर्म आदि ने बतलाया है। सत्यसमाजकी अहिंसा जैनधर्म और हिंदूधर्म मे से ली गई है, उसीको अपनाया गया है, परीक्षा कर के उस पर अहंत्व का

आरोप किया गया है। मनुष्य में अगर विवेक और विचार है तो वह सत्यासत्य का निर्णय करेगा ही। उस निर्णय को अहं कहकर नहीं ठुकराया जा सकता।

यह समझना भूल है कि सत्यसमाज से संघर्ष बढ़ेगा। संघर्ष के बारे में हमें तीन बातों का विचार करना चाहिए।

१—पहिली बात तो यह है कि सत्यसमाज में संघर्ष के बीज प्रायः नहीं हैं। उसकी प्रार्थनाएँ, उसका धर्मस्थान, सब धर्मों के महापुरुषों के विषय में उसकी भक्ति आदर आदि ये सब इस प्रकार भरे हुए हैं कि संघर्ष को शान्त करने का ही काम अधिक होगा।

२—दूसरी बात यह है कि जब क्रान्ति की जरूरत होती है तब संघर्ष होता है। समाज-

सुधार की मामूली बात के लिए भी हमें संघर्ष करना पड़ता है विकास के लिए जो संघर्ष अनिवार्य है वैसा संघर्ष सत्यसमाज से हो तो वह उचित ही होगा।

३--तीसरी बात यह है। अगर सत्यसमाज बिलकुल साम्प्रदायिक बन कर संघर्ष ही करने लगे तो भी इससे संघर्ष कम ही होगा, अधिक नहीं। यूरोप के एक ही धर्म के दो सम्प्रदाय थे, प्रोटेस्टेन्ट और कैथौलिक, पर उनमें करोड़ों जिन्दे जलाये गये और भारतवर्ष में अनेक धर्मों के सैकड़ों सम्प्रदाय थे पर ऐसी दुर्दशा न हुई बल्कि यहां की साधारण जनता में सर्वधर्मसमभाव सर्वदेव-समभाव सर्वगुरुसमभाव और सर्वशास्त्रसमभाव तक आया। सम्प्रदायों की संख्या बढ़ने से देश में संघर्ष नहीं बढ़ता बल्कि कभी कभी घटता है।

आदमी तो उतने ही हैं । जब दो दल रहते हैं तब दोनों तरफ़ काफ़ी आदमी हो जाते हैं और ज़ोर से लड़ते है । जब चार दल होते हैं तब चारों की जनसंख्या कम हो जाती है । एक तीन पर हावी नहीं हो पाता इसलिए सहिष्णु बन जाता है । संघर्ष का सम्बन्ध सम्प्रदायों की अधिक संख्या से नहीं है किन्तु उसके भीतर रहने वाली कट्टरता से है सो कैसी भी हो । आज कल के साम्प्रदायिक वातावरण से निकल कर जो आदमी सत्यसमाज में आयेगा वह कट्टरता में कुछ न कुछ कम ही होगा ।

ये बातें ऐसी हैं जो सत्यसमाज से संघर्ष की शंका दूर करती हैं ।

अन्त में मैं एक बात पर ज़ोर देना चाहता हूं । वह यह कि सत्यसमाज ने जो भी विचार

दुनिया के सामने रक्खे हैं, उनकी खूब जाँच करो, परीक्षा करो। उनमें अगर सच्चाई मिले, कल्याण-कारकता मिले, तो उसे अपनाने के लिए जीवन में उतारने के लिए, मानवमात्र को उस सत्यमय कल्याणपथ पर चलाने के लिए, उसे सहारा देने के लिए, तैयार हो जाओ। अगर डर है कि उसमें कोई दोष न आ जावे तो उसके लिए सतर्क रहो, दोषों से बचने की कोशिश करो। पर यह खयाल रखना चाहिए कि भुस के डर से अन्न न फेंक दिया जाय, बुढ़ापे के डर से बच्चा न मार डाला जाय।

अगर विचारों में सच्चाई है तो कर्मठता होना ही चाहिए, भले ही वह किसी भी नाम रूप में प्रगट हो। सत्यसमाज न सही और कुछ सही, निर्नाम ही सही, पर कर्म करो, उसे

मूर्तिमंत रूप दो । चाहे रास्ता बनाओ, चाहे रास्ता चुनो पर रास्ते पर चलो अवश्य । चलने में ही जीवन है और इसी के लिए सत्यसमाज है ।

प्रश्न२ "कुरान की झाँकी" के उन्वान (शीर्षक) के मातहत कुरान मजीद सूरे हज की आयत ६७ का हवाला देते हुए यह बयान किया है कि कुरान की तालीम के मुताबिक़ हर मज़हब के मानने वालों के लिए अल्लाह तआला ने मुख्तलिफ़ इबादत के तरीके मुकर्रिर किए हैं इसलिए चूँकि मूर्तिपूजा भी इबादत के तरीकों में से एक तरीका है लिहाजा इसमे मुसलमानों को चिढ़ने या इससे किसी को रोकने का इन्हें हक़ नहीं है, वगैरह ।

इबादत के मुख्तलिफ़ तरीके जिनमें मूर्ति-पूजा को भी बुतपरस्त लोग शामिल करते हैं,

यक़ीनन कुरान मजीद की इस आयत के मातहत नहीं आते क्योंकि कुरान हकीम ने निहायत ही वाज़ह और ग़ैरमुबहम अल्फ़ाज़ में मूर्तिपूजा को इबादते खुदा के ख़िलाफ़ ठहराया है।

इसलिए मुसलमानों से यह तवक़्क़ो रखना कि वे कभी कभी मन्दिर में जाकर मूर्ति-पूजा भी कर लिया करेंगे एक ऐसी आरज़ू है जिसे मुसलमान कभी भी और किसी भी क़ीमत पर भी पूरा न कर सकेंगे।

वैसे हिन्दू मुस्लिम इत्तहाद के सिलसिले में आप के जज़बात और ख़यालात व आम इस्लाहात से मुझे इत्तफ़ाक़ है, यहाँ सिर्फ़ इतनी गुज़ारिश है कि कुरान मजीद या इस्लाम के मआनी समझने या बयान करने में अहतियात

से काम लेना चाहिये [बम्बई का सुप्रसिद्ध उर्दू दैनिक पत्र—"हिलाले नौ"]

उत्तर—"हिलाले नौ" ने जिन पंक्तियों पर आपत्ति की है वे ये है—

"हर एक कौम के पूजा पाठ के तरीके जुदा जुदा हैं। इस्लाम किसी के तरीके में बाधा नहीं डालना चाहता।"

इन पंक्तियों में न तो मूर्तिपूजा का नाम है और न कहीं मुसलमानों से यह आरज़ू की गई है कि वे मन्दिरों में जायें। इसमे तो इस्लाम की एक अच्छी से अच्छी उदारता का परिचय दिया गया है और यह बताया गया है कि इस्लाम किसी दूसरे के तरीके को पसन्द करे या न करे पर वह उस में बाधा नहीं डालना चाहता। कुरान शरीफ़ में बहुत जगह ऐसी आयतें आई हैं, जिनमें

बाधा डालने या ज़बरदस्ती करने की सख़्त मनाई की गई है। यहाँ उदाहरण के लिए दो तीन आयतें दी जाती है—

"हम ने तुम को इन पर मुहाफ़िज़ तो मुक़र्रिर किया नहीं और न तुम इन पर तैनात हो और जो लोग खुदा के सिवा दूसरे माबूदों को बुलाया करते है उनको बुरा न कहो"

(सूरे अनआम)

"हमारे बन्दों को समझा दो कि (अपने मुख़ालिफ़ो से भी कोई बात कहे तो) ऐसी कहें कि वह बेहतर (मीठी) हो क्योंकि शैतान (सख़्त बात कहलवा कर) लोगों में फ़साद डलवाता है।"

(सूरे बनी इस्राइल)

"(ए पैग़म्बर तुम लोगों को) समझाओ

तुम तो (ख़ाली) समझाने वाले हो और बस। तुम उनपर कुछ दारोग़ा की तरह तैनात नहीं हो।

(सूरे ग़ाशिया)

इससे मालूम होता है कि दूसरे मज़हबों के तरीक़ों में तो दूर, लामज़हब या धर्मविरुद्ध तरीक़ों में भी इसलाम न तो ज़बरदस्ती करता है न बाधा डालता है और न उनके मानने वालों के दिलों को चोट पहुँचना चाहता है, सिर्फ़ समझाना चाहता है।

यह एक इतनी बड़ी उदारता है जो आज की मज़हबी दुनिया में दिखलाई नहीं पड़ती और जिसके बिना आज की मज़हबी दुनिया शैतान की पूजा करने वाली कही जा सकती है। इसलाम की इसी उदारता की तरफ़ मैंने ध्यान

दिलाया था। मैं नहीं समझ सका 'हिलाले नौ' को इसमें क्या और क्यों बुराई मालूम हुई ?

मालूम होता है "हिलाले नौ" के लेखक को मेरे व्याख्यानों के ज़रिए, या मेरे साहित्य के ज़रिए इस विषय में मेरे विचारों का परिचय है, कुरान की झांकी में वे विचार न होने पर भी लिखते समय उनके ध्यान में वे विचार रहे हैं। उनका यह मानना सत्य है कि मैं यह चाहता हूँ कि हिन्दू कभी कभी मस्जिद में जाकर नमाज़ पढ़ें और मुसलमान कभी कभी मन्दिर में जाकर पूजा करें। मेरा यह भी ख़याल है कि मेरे इस विचार को बहुत से हिन्दू और बहुत से मुसलमान पसन्द भी करते हैं। इसके साथ मुझे इस बात का भी पूरा पता है कि इस्लाम मूर्तिपूजा के सख़्त मुख़ालिफ़ है और मैं इसको

ताईद भी करता हूं। इसका कारण यह है कि इसलाम ने जिस मूर्ति-पूजा का विरोध किया है उस मूर्ति-पूजा में और हिन्दोस्तान में आम तौर पर जो मूर्ति-पूजा होती है उसमें ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है। शब्द समान है पर अर्थों में बड़ा अन्तर है। मूर्तिपूजा के दो अर्थ हैं—(१) मूर्ति की पूजा, (२) मूर्ति के ज़रिए पूजा। दुर्भाग्य से दोनों अर्थों के लिए एक ही शब्द चल रहा है इसलिए यह गड़बड़ी होती है। अरब में जो मूर्तिपूजा होती थी वह मूर्ति की पूजा थी। ऐसी मूर्ति की पूजा आज भी हिन्दोस्तान में कहीं कहीं होती है। सचमुच यह कुफ़ है और इससे मनुष्य का नुक़सान ही होता है।

जिस जगह मूर्ति किताब की तरह पढ़ने की चीज़ नहीं होती किन्तु उसी में देवत्व

अतिशय, मौजिज़ा आदि मान लिये जाते हैं उस मूर्ति को हटाकर उससे अच्छी मूर्ति रखदेने पर भी जहाँ लोगों को सन्तोष नहीं होता वहाँ मूर्ति की पूजा है। इस तरह की मूर्तिपूजा केशरियानाथ एकलिंग आदि बहुत से हिन्दू और जैन तीर्थों में होती है। यह बुरी है। साथ में दुर्भाग्य की बात इतनी और है कि जिस इस्लाम ने मूर्ति की पूजा का सख्त विरोध किया है उसी में मूर्ति की पूजा का एक बड़ा भारी निशान रह गया है और वह है संगे असवद। आज संगे असवद की जगह उससे भी अधिक बड़ा, मज़बूत, सुन्दर चमकदार सुडौल पत्थर रख दिया जाय तो भी मुसलमान संगे असवद की तरह उसकी इज्ज़त न करेगा। यही है मूर्ति की पूजा, जो थोड़े बहुत पैमाने पर सभी जगह रह गई है।

सभी मजहब इसके मुखालिफ हैं । इस मूर्ति की पूजा के लिए मैं किसी से अनुरोध नहीं करता बल्कि इसका मैं उतनाही विरोधी हूँ जितना एक सच्चा मुसलमान हो सकता है ।

दूसरी तरह की मूर्तिपूजा का कोई मज़हब विरोध नहीं करता । वह तो सिर्फ एक सहारा है या एक ऐसी किताब है जिसे अपढ़ भी पढ़ सकता है । एक किताब फट जाने पर हम दूसरी किताब ले लेते हैं, किताब न होने पर कहीं से खरीद लेते हैं, लिखवा या छपवा लेते हैं उसी तरह जो लोग कोई पाठ पढ़ने के लिए किसी मूर्ति का मन्दिर का मस्जिद का क़ब्र या ताज़िए का या निशान का सहारा लेते हैं वे मूर्ति की पूजा नहीं करते किन्तु किताब की तरह मूर्ति के ज़रिए अपने माबूद की ईश्वर या अल्लाह की पूजा करते

है । अगर काबा की तरफ मुंह करके नमाज़ पढ़ना काबा की इबादत नहीं, अल्लाह की इबादत है, तो मूर्ति की तरफ मुँह करके पूजा करना मूर्ति की पूजा नहीं ईश्वर की पूजा है। झगड़ा सहारा लेने का नहीं है, झगड़ा उस पत्थर आदि को, जिसका सहारा लिया गया है, खुदा मानने का है। हिन्दू मन्दिर मे जाकर पत्थर के गुण नहीं गाता, ईश्वर के गुण गाता है, पत्थर तो सिर्फ सहारा है। मूर्ति के बारे में तो वह यह समझता ही रहता है कि यह एक शिल्पी की बनाई हुई है। मुसलमान अगर मन्दिर मे जायँ तो वे बुत की पूजा न करेंगे बल्कि बुत के ज़रिए अल्लाह की पूजा करेंगे। कुरान मे सूरे बक़र में एक आयत है—

"अल्लाह ही का है पूरब और पश्चिम, जहाँ कहीं मुँह कर लो उधर ही को अल्लाह का सामना है"।

इसलिए मूर्ति की तरफ मुंह कर लेने पर भी अल्लाह का ही सामना होगा, अल्लाह की ही इबादत होगी, बुतपरस्ती नहीं। इसीलिए इस्लाम की इज़्ज़त रखते हुए अपने को इस्लाम का कद्रदाँ मानते हुए भी मैं मुसलमानों को मन्दिर में भी जाने की सलाह देने की हिम्मत करता हूं।

मुसलमानों ने मूर्तिपूजा के इन दोनों रूपों को और इस्लाम ने जिस मूर्तिपूजा का विरोध किया है, उस मूर्तिपूजा की ठीक सूरत और उसके मक़सद को समझा होता तो हिन्दुस्तान का इतिहास ही कुछ दूसरा होता। दुनिया के सब मज़हबों ने दूसरे मज़हबों के बारे में सम्मान दिखलाया है लेकिन इस बारे में इसलाम ने साफ़ साफ़ शब्दों में जितना जोर दिया है वह दुनिया

की सब मजहबी किताबो (मूल ग्रन्थो मे) मे बेजोड़ है। इतना होने पर भी मुसलमान इस ओर में काफी पीछे हैं इस का कारण मूर्ति-पूजा के विरोध को ठीक ठीक न समझना ही है।

इसलाम हर मुल्क और हर कौम मे पैगंबर मानता है, हर दिशा में खुदा को देखता है, किसी किताबवाले से झगड़ा नहीं करना चाहता है, इतना होने पर भी मुसलमान व्यवहार मे हिन्दोस्तान के धर्मों के साथ मेल न कर सके, सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी इस्लाम और हिन्दू-धर्म की धाराएँ तेलपानी की तरह अलग अलग बहती रहीं, इसके कारणों में मुख्य कारण यही है कि इस्लाम के मूर्ति-पूजा के विरोध का मतलब यहाँ के मुसलमान ठीक ठीक न समझ सके। नौ करोड़ हिंदुओं को इस्लाम ने आदमीयत का

पाठ पढ़ाया, जात पांत के शैतानी फन्दे से छुड़ाया इस्लाम का हिन्दोस्तान पर यह एक बड़े से बड़ा उपकार है। इस उपकार में चार चाँद लग जाते यदि मुसलमान सर्व-धर्म-समभाव का, जो कि इसलाम का बड़ा से बड़ा और अच्छा से अच्छा पहलू है, पाठ पढ़ाते। यह कितने खेद बल्कि शर्म की बात है कि जिस देश में इसलाम सरीखे सर्व-धर्म-समभावी पवित्र मज़हब को मानने वाले नौ करोड़ आदमी हों उस देश में मज़हब के नाम पर झगड़े होते हों, एक दूसरे के धर्मस्थान नापाक किए जाते हों एक कौम के और एक मुल्क के दो टुकड़े होते हों। इसलाम का किसी तरह मूर्ति पूजा के साथ भी कुछ मेल बैठ सकता है पर इन खुराफ़ातों के साथ उसका ज़रा भी मेल नहीं है।

मैं अपने मुसल्मान भाइयों से एक भाई की हैसियत से ही कहना चाहता हूँ कि यह इसलाम के सच्चे इम्तहान का मौक़ा है। इम्तहान लफ्ज़ों का नहीं है, अर्थ का है, रूह का है, अमल का है। अगर आज मुसलमान मन्दिर में नहीं जा सकता तो हिन्दू मस्जिद में कैसे जा सकेगा? क्या मन्दिर और मसजिद इसी तरह भाई भाई में दलबन्दी कराते रहेंगे, क्या अल्लाह या ईश्वर के इसी तरह टुकड़े टुकड़े किए जाते रहेंगे? इसीलिए मैं मुसलमान भाइयों से कहना चाहता हूं कि वे ज़माने को ठीक ठीक देखें, मुल्क की हालत पर गौर करें यहाँ के मज़हबों के उसूलों को ठीक ठीक समझें, और कुरान का ठीक ठीक अर्थ करें जिससे मज़हब का मक़सद पूरा हो।

यह तो हुआ 'हिलाले नौ' के वक्तव्य का उत्तर। अब मैं हर मज़हब वालों से, ख़ास तौर पर यहां इस्लाम के माननेवालों से दो एक बातें कहना चाहता हूं। पहिली बात यह है कि हरएक मज़हब दुनिया की भलाई के लिये है दुनिया की भलाई मज़हब के लिए नहीं। इसीलिए कौन काम अच्छा है और कौन बुरा, इसका विचार दुनिया की भलाई को देख कर करना चाहिए न कि किसी किताब ग्रन्थ या शरीअत को देख कर। ये चीज़ें ज़माने के मुताबिक़ दुनिया की भलाई के लिए बदलती रहती हैं। हज़रत मुहम्मद साहब की छोटी सी ज़िंदगी में ही आयतें मन्सूख़ हुई थीं और बदले हुए वक़्त के मुताबिक़ दूसरी आयतें नाज़िल हुई थीं। हिन्दू शास्त्रों में भी ऐसा ही होता रहा है और इसलाम भी इस बात को

मंजूर करता है। इसीलिए तो कुरान शरीफ में एक आयत है--

'हम कोई आयत मन्सूख करदें या जहन से इसको उतार दें तो उससे बेहतर या वैसी ही नाजिल कर देते हैं" (सेरे बकर)

अगर अरब के छोटे से मुल्क में और मुहम्मद साहब की छोटी सी जिंदगी में आयतों को मन्सूख करने और नई आयतों को नाजिल करने का मौका आ सकता है तो हिन्दोस्तान सरीखे बड़े भारी किसी दूसरे मुल्क में और इस डेढ़ हज़ार वर्ष के लम्बे ज़माने में आयते मनसूख करने के कितने मौके आ सकते हैं इसका त्रैराशिक लगाकर विचार करना चाहिए। पहिली बात तो यह है कि इसलाम उस मूर्तिपूजा का विरोध ही नहीं

करता है जिसके लिए मैं मुसलमानों से अनुरोध कर रहा हूं पर अगर करता भी होता तो भी इस मुल्क की भलाई के लिए और इसलाम की रूह के समान सर्व-धर्म-समभाव के लिए इस चीज़ को अपनाना चाहिए था। एक बड़ी भलाई के लिए छोटी भलाई की कुर्बानी कर देना गुनाह नहीं हो सकता। अल्लाह दिल को देखता है, अगर तुम्हारे दिल में शिरकत का माद्दा नहीं है, अल्लाह की सल्तनत से मुहब्बत है तो यह मुहब्बत किसी भी कुफ्र को पास न फटकने देगी। पहिले तो मन्दिर मे जाने से मूर्ति की पूजा नहीं होती मूर्ति के ज़रिये अल्लाह की पूजा होती है, दूसरे अगर मूर्तिपूजा भी हो तो भी करोड़ों आदमियों में एकता पैदा करने के लिये अल्लाह के सभी इबादतगाहों मन्दिर मसजिद चर्च आदि में आदर पैदा करने

के लिये मन्दिर में भी जाना ज़रूरी है, इसलिये मुझे यक़ीन है कि अल्लाह मेरे दिल की यह बात समझ कर मुझ पर कभी नाराज़ नहीं हो सकता।

अगर मेरी यह आरज़ू मुसलमान कभी भी और किसी भी क़ीमत पर पूरा न करें तो मुझे दुःख के साथ समझ लेना पड़ेगा कि इस मुल्क मे इसलाम का ढाँचा ही रह गया है इसलाम की रूह उड़ गई है।

इने गिने पक्के मुसलमानों को छोड़ दीजिये बाक़ी सब मुसलमान ताज़िये की, क़ब्रों की मक़बरों की दरगाहो की पूजा करते है, कहीं सिर झुकाते हैं कहीं अगरबत्तियाँ जलाते हैं कहीं रेवड़ियाँ मिठाईयाँ चढ़ाते हैं। हिन्दुस्तान की मुसलमानी दुनिया बुतपरस्ती से ठसाठस भर गई है और यह सब इसलिये कि कोई इस बुत-

परस्ती से बचा चाहता है, कोई दौलत चाहता है और कोई सेहत चाहता है। दुनियावी मतलब पूरा करने के लिए अगर मुसलमान यह बुतपरस्ती कर सकते हैं तो दुनिया की भलाई के लिये, आदमी आदमी में मुहब्बत करने के लिए, एकता के लिये, वह बुतपरस्ती क्यों नहीं कर सकते।

मुझे दु:ख के साथ एक इसलाम-भक्त की हैसियत से कहना पड़ता है कि बेज़रूरी बुत-परस्ती मुसलमानों में ठसाठस भर गई हैं और ज़रूरी और आदर प्रेम बढ़ाने वाली बुतपरस्ती का गिन गिन कर बहिष्कार किया जाता है। इसीलिये ताज़िया और क़ब्रों की पूजा होती है पर मन्दिर आदि से नफ़रत की जाती है। हालां-कि जिनकी क़ब्रें पुजती हैं उनकी हस्ती से राम कृष्ण महावीर बुद्ध ईसा आदि की हस्ती

बड़ी है । इसलाम के अनुसार ये पैगम्बर हैं और खुदा के पैगम्बरों में मुसलमान फ़र्क़ नहीं कर सकता, तब क्या यह मुसलमानियत है कि पैग़म्बरों के स्मारक तो ठुकराये जांय और मामूली सन्तों के स्मारकों की इबादत की जाय ? बुतपरस्ती को कुफ्र मानने का यह कौन सा तरीक़ा है ?

मैं यह देखता हूं कि कहीं कहीं बुतपरस्ती तो मुसलमानों में हिन्दुओं से भी बढ़ गई है । उस दिन रेलगाड़ी में एक मुसलमान भाई एक मुसाफ़िर से इसलिये लड़पड़े कि उस मुसाफ़िर के पैर उनकी पेटी की तरफ़ थे, और उस पेटी में कुरान रक्खा था । हिन्दुओं की बुतपरस्ती इसके आगे अच्छी तरह फीकी पड़ सकती है ।

कई जगह बुतपरस्ती के विरोध का रिवाज बड़े विचित्र तरीक़े से पाला जाता है । मैं एक

मुसलमान भाई के यहां पहुँचता हूं उनके घर में उनका फ़ोटो टंगा है उनके बाप का भी फ़ोटो टंगा है एक जगह शान के साथ सिनेमा की एक मिस टंगी हुई है किसी नवाब या मुसलमान बादशाह का चित्र भी लगा है, सब कुछ है पर मुहम्मद साहिब का चित्र नहीं है। क्यों? सिर्फ़ इसीलिये कि मुहम्मद साहिब ने अपना चित्र और क़ब्र बनाने की मनाई की थी।

यह बिलकुल सच है। मुहम्मद साहिब की इस सचाई त्याग और उदारता को देखकर कोई भी उनके क़दम चूम लेगा। पर मुसलमानों ने उनके हुक्म का क्या सचमुच पालन किया? मुहम्मद साहिब ने अगर अपने चित्र या क़ब्र बनाने की मनाई की थी तब वह दूसरा कौन है जिसका चित्र बनाया जा सके या क़ब्र बनाई जा

सके। और जब दूसरों के चित्र या क़ब्र बन सकते हैं तब मुहम्मद साहिब के क्यों नहीं।

पर बहुत से मुसलमान हिन्दुओं और जैनियों से भी बढ़कर लफ़्ज़ों के गुलाम बन गये हैं अर्थ के विचारक नहीं। इसीलिये जब मैंने धर्मालय (सब मज़हबों का घर) बनाया तब इसलाम का निशान रखने में मुझे बड़ी परेशानी हुई। राम कृष्ण महावीर बुद्ध जरथुस्त और ईसा की तो मैंने संग-मरमर की मूर्तियाँ बनवाकर एक साथ रखदीं पर मुहम्मद साहिब की मूर्ति या चित्र मुझे न मिल सका न मैं बनवा सका। कुछ मुसलमानों ने कहा कि मुहम्मद साहिब का चित्र मुसलमान बरदाश्त न करेंगे। मुझे तो मुसलमानों से मुहब्बत करना है मैं उनकी मरज़ी के खिलाफ़ मुहम्मद साहिब

का चित्र या मूर्ति क्यों रखता, मैने मक्का मदीने के चित्र और कुरान शरीफ़ रख दिया। पर मैं यह न समझ सका कि जब मुसलमान नवाबों और बादशाहों, फकीरो और पीरों और बापदादों के चित्र बरदाश्त कर सकते है तो बादशाहों के भी बादशाह पीरोंके भी पीर और बापदादों के भी बापदादा, रसूलल्लाह हज़रत मुहम्मद साहिब का चित्र बरदाश्त क्यो नहीं कर सकते ? इसका कारण यही है कि मुसल्मानी दुनिया मतलब और मकसद को भूलकर लफ्जो की गुलामी में फंसी है। बुतपरस्ती के विरोध का यहां बड़ा विचित्र गोरख-धंधा मचा हुआ है।

मुझे आज इस बात की चिन्ता नहीं हैं कि मुसलमान कभी भी किसी भी क़ीमत पर बुतपरस्ती करेंगे या नहीं, मुझे तो यही चिन्ता है कि

मुसलमान कभी भी किसी भी कीमतपर बुतपरस्ती छोड़ेंगे या नहीं ।

अन्त में मैं मुसलमान भाइयों से कहना चाहता हूं कि मैं आपको बुतपरस्त नहीं बनाना चाहता, अल्लाह के रास्ते से भटकाना नहीं चाहता, इसलाम और मुहम्मद साहिब के बारे में एक सच्चे और विवेकी मुसलमान के दिल में जितनी इज़्ज़त होना चाहिये उतनी मुझे भी है, मसजिद में जानेपर मेरा दिल उतना ही खुश हो जाता और सिर भक्ति से झुकजाता है जितना मन्दिर में जाने पर, पाक इसलाम में मै कोई नापाक बात नहीं मिलाना चाहता, पर मैं इसलाम को एक अन्धा रिवाज नहीं समझता, मुसलमान होने का यह मतलब नहीं समझता कि ज़माना बदलने पर दुनिया की भलाई के लिये अक्ल से काम न किया

जाय । इसीलिये मैं मुसलमान बिरादरी से मज़हब की रूह को पकड़ने की आरज़ू करता हूं सच्चा मुसलमान बनने की दरख़्वास्त करता हूं । इसलाम इम्तहान में इसलिये पास न होजायगा कि किन किन लफ़्ज़ों से कौन कौन बिरादर चिपटे रहे पर इससे पास होगा कि इसलाम ने कितना भाई-चारा बढ़ाया, दूसरे मज़हब वालों ने भी मुसलमानों पर कितना यक़ीन किया, मुसलमानों के होने से मुल्क में और दुनिया में कितना अमन फैला, राजनैतिक आर्थिक और सामाजिक गुलामी का कितना नाश हुआ, धर्मसमभाव और जातिसमभाव कितना फैला और कितना बढ़ा ।

हिन्दू मुसलिम इत्तहाद के लिये मुसलमानों से मैं जो आशा करता हूं वह यह है ।

१—कोई भी मुसलमान पत्थर को परमेश्वर न समझे पर अगर मसजिद की इज्जत करे तो मन्दिर और चर्च की भी इज्ज़त करे, मसजिद भी आख़िर पत्थर है और मन्दिर चर्च आदि भी पत्थर हैं।

२—जो मुसलमान ताज़िया क़ब्र संगे असवद आदि की इज्ज़त नहीं करते उनके आगे कभी नहीं झुकते, वे मन्दिर में मूर्तियों के आगे भी न झुकें। पर उनका अनादर न करें। मन्दिर मे जायँ तो सिर झुकाए या हाथ जोड़े बिना आदर से खड़े रहें या बैठ जायँ।

३—जो मुसलमान ताज़िया क़ब्र संगे असवद आदि की इज्जत करते हैं वे मूर्तिको भी एक यादगार समझकर उसकी इज्ज़त करें।

४—मूर्ति का उपयोग करें या न करें पर मन्दिर

में कोई अच्छी तकरीर हो कथा हो तो सुनने जावें इसी तरह मसजिद में हिन्दू आदि को भी बुलायें।

५—राम कृष्ण महावीर बुद्ध आदि हिन्दुस्तान के पैगम्बरों का जन्म-दिन मनावें या शामिल हों, और मुहम्मद साहिब के जन्मदिन पर हिन्दू आदि को भी बुलावें।

६—मुहम्मद साहिब का नाम जिस प्रकार आदर से लेते हैं उसी प्रकार कभी कभी हिन्दुस्तान के पैगम्बरों के नाम भी ले। उनको भी अल्लाह का रसूल समझें।

७—मसजिद के आगे से अगर किसी हिन्दुस्तानी पैगम्बर का [उसके निशान मूर्ति आदि का] जुलूस जा रहा हो तो उस जुलूस का स्वागत करें। और स्वागत करने के लिये मसजिद

के आगे जुलूस को थोड़ी देर को रोकले ।

८-गीता आदि को आदर से पढ़ें और आदर प्रगट करने के लिये समझदार मुसलमान कभी कभी तकरीर भी करें ।

९-सब धर्मों में एकता स्थापित करने के लिये कहीं अगर सब धर्मों की मूर्तियाँ बतौर यादगार के रक्खी जायँ तो उस काम में मदद करें और मौके मौके पर वहाँ जायँ उसका प्रचार करें । सब पैगम्बरों की मूर्तियाँ या चित्र आदर के साथ बराबरी से रक्खे जायँ तो मुहम्मद साहिब का भी चित्र या मूर्ति भेंट करें ।

उदारता की जो बातें मैं यहां मुसलमानों से कह रहा हूं उसी तरह की बहुत सी बातें मैं हिन्दुओं से भी भी कहता हूं । मैं तो चाहता हूं

कि आदमी आदमी में मुहब्बत पैदा हो मन्दिर मसजिद उस मुहब्बत को बढ़ाने का ज़रिया बने घटाने का जरिया नहीं । मन्दिर मसजिद और मजहब के बिना भी अल्लाह मिल सकता है पर मुहब्बत के बिना अल्लाह नहीं मिल सकता। इसलिये मुहब्बत के लिये मन्दिर मसजिद और मजहब को भी कुर्बान कर सकते है पर इनके लिये मुहब्बत को कुर्बान नहीं कर सकते । आशा है मुसल्मान बिरादर मेरे लफ्ज़ों को पकड़ने के बजाय मेरे दिल को पकड़ने की कोशिश करेंगे।

प्रश्न १०--जुदी जुदी जगह जुदी जुदी घड़ियां जुदे जुदे सन संवत्, कृष्णपक्ष में महीने के नामों में गड़बड़ी आदि इन विभिन्नताओं को दूर करना चाहिये या नहीं ? यदि हां तो कैसे ?

— एक जिज्ञासु भाई

उत्तर--कोई कोई बात ऐसी होती है जिस में एकरूपता की अपेक्षा हमे एकता का ही अधिक खयाल रखना पड़ता है। वहाँ एकरूपता के बिना काम चल जाता है, बल्कि एकरूपता का अभाव हमारी सुविधा को कुछ बढ़ाने लगता है। नर नारी की जुदी जुदी पोषाक आदि सैकड़ो बाते इसी तरह की है।

पर कोई कोई बात ऐसी होती है जिस में जितनी विविधता होगी हमारी अड़चन उतनी ही बढ़गी और उससे लाभ होने के बजाय हानि ही विशेष होगी, व्यर्थ का जुदापन बढ़ेगा। लिपि भाषा आदि की भिन्नता इसी तरह की है। हम इस भिन्नताको जितना अलग कर सके हमारे व्यवहार मे उतना ही सुभीता होगा। इसी तरह की एक बात समय-गणना की है।

समय गणना मे पांच बाते विचार की है। १ दिनांश, २-दिन, ३-पक्ष, ४-मास, ५-वर्ष।

१-**दिनांश**-एक दिन के दो भाग तो प्रकृतिने ही कर दिये हैं, दिन और रात। सुबह दुपहर शाम आदि भेद भी प्रकृति के निमित्त से मिलगये इस से दैनिक व्यवहार मे समय-गणना का बहुत सा काम चल जाता था फिर भी छोटे छोटे समय के विचार मे कठिनाई जाती थी इस लिये धूपघड़ी रेतघड़ी जलघड़ी आदि का आविष्कार हुआ। घड़ी के हिसाब से दिन के साठ भेद किये गये। व्यवहार की सुभीते के लिये मुहूर्त का भी व्यवहार हुआ पर इन घड़ियो मे सुविधा बहुत कम थी। यह समस्या हल हुई मशीन की घड़ी बनने के बाद। घंटा और मिनिट वाली घड़ियों ने दिनांश के व्यवहार में बहुत कुछ

सुविधा लादी है । फिर भी दिनांश के व्यवहार में कठिनाई बनी ही है ।

सब से बड़ा दोष जो इन घड़ियों में है वह यह कि ये सिर्फ बारह तक बजाती हैं जबकि हमारा दिन (दिन रात) चौबीस घंटे का होता है । इसलिये हमें बजने का समय बताने के साथ दिन और रात का भेद बताना पड़ता है । पर दिन और रात सदा एक से नहीं होते । दोनों के परिमाण में चार पाँच घंटे तक का अन्तर पड़ जाता है । इसलिये गरमी के दिनों में सुबह के छः और शाम के छः दोनों ही दिन मे पड़ते हैं और ठंड के दिनो में दोनों ही रात में पड़ते है ।

दिनरात कहकर या ए. एम., पी. एम. लगाकर काम चलाया जाता है पर यह एक तरह अनावश्यक बोझ ही है । रेलवे टाइम टेबिल में

यह बोझ नहीं रहता वहां १ से लेकर २४ तक बजते हैं। इससे बड़ी सुविधा है। पर घड़ियाँ वहाँ भी बारह घंटेवाली रहती हैं। इसलिये जब रेलवे टाइम टेबिल के अनुसार १७ बजे गाड़ी चलती है तब घड़ी का काटा ५ पर ही रहता है। विज्ञान की इतनी उन्नति होनेपर भी यह समझ में नहीं आता कि घड़ियों का यह अन्धेर क्यों चालू है ? चौबीस घंटेवाली घड़ियों मे क्या कठिनाई है ? छोटे काँटे की गति आज से आधी कर देने पर २४ घंटेवाली घड़ी बन सकती है। क्यों नहीं घड़ियो मे यह सुधार किया जाता ?

दूसरी बात है जुदी जुदी जगह का टाइम। सूर्य का उदय सब जगह एक समय नहीं होता पर सभी जगह वाले बताना यह चाहते हैं कि

हमारे यहाँ भी सूर्य उतने ही बजे उगता है जितना तुम्हारे वहाँ, हां, घड़ी में घंटा का फर्क हो जाता है। मै कहता हूँ कि जब सूर्य के उदय में फर्क है तो सूर्य के उदय में ही फर्क करो घड़ी मे क्यों करते हो? कलकत्ते में सूर्य का उदय ६ बजे हो तो बम्बई में ७ बजे, इसी प्रकार कहीं ९-१०-११-१२ बजे सूर्य का उदय माना जाय तो क्या बुराई है। हम विलायत जायँ तो रास्ते में अपनी घड़ी दस बार बदलें बम्बई से कलकत्ते जायँ तो घड़ी बदलें, यह सब क्यो? छः बजे ही सवेरा सब जगह माना जाना चाहिये यह क्यों? दुनिया भर का एक स्टेन्डर्ड टाइम बना लिया जाय फिर उसके अनुसार जहाँ जैसा सूर्योदय हो वहाँ वैसा माना जाय।

२ **दिन**- दिन (दिनरात) प्रायः सभी जगह २४ घंटे का होता है। ध्रुव और उसके आसपास जरूर दिन का व्यवहार ठीक नहीं बैठता। पर वहाँ इतनी कम जन-संख्या है कि वहाँ के अन्तर का विचार यहाँ करने की जरूरत नहीं है।

३ **पक्ष**—जहाँ चंद्रमा के अनुसार वर्ष आदि माना जाता है वहाँ उजेला पाख और अँधेरा पाख मानने की चीज़ है। यों तो सभी जगह इसके व्यवहार की जरूरत है। रात में कहीं जाना हो कोई जल्सा वगैरह करना हो तो उजेले अँधेरे पाख का विचार बड़ा उपयोगी है। हिन्दुस्तानियों की समय-गणना में और मुसलमानी देशों की समय-गणना में इसका काफ़ी उपयोग होता है।

४ **महीना**—महीना वर्ष का विभाग है। समयगणना की यह बहुत ज़रूरी चीज़ है। प्रायः

सभी जगह वेतन महीने से चुकाया जाता है। पर चन्द्र-वर्ष के महीनों में कुछ अड़चन है। मुसलमान लोग अधिक मास नहीं मानते इसलिये उनका वर्ष सूर्य-वर्ष से मेल नहीं खाता, जब कि ऋतु-परिवर्तन आदि सूर्य के अनुसार ही हुआ करते हैं। इसलिये एक ही महीना कभी घोर वर्षा के दिनों में, कभी कड़ाके की ठंड में, और कभी गरम गरम लू के दिनों में आता है। वास्तव में यह अरब आदि देशों की वर्ष-गणना की बड़ी कमी है। किसी महात्मा का जन्म दिन मनाना हो, जन्म दिन के वर्णन में अगर वर्षा-ऋतु का चित्रण हो जो ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य हो लेकिन अरबी वर्ष-गणना के अनुसार जन्म-दिन पर लू चल रही हो या कड़ाके की ठंड पड़ रही हो इस प्रकार उल्टी ऋतु हो तो

बड़ा अटपटा मालूम होगा। मुहर्रम कभी गर्मी मे रहा हो उस दिन की किसी घटना की याद करके पानी बहाने का रिवाज हो और इधर घोर बरसात में मुहर्रम आजाय तो बड़ा विचित्र दृश्य होगा। इसलिये अरबी वर्षगणना में हिन्दुस्तानी वर्षगणना के समान अधिक मास की ज़रूरत है।

हिन्दुस्थानी वर्ष-गणना यों तो ठीक है पर चन्द्र-वर्ष होने से दिनों की बड़ी गड़बड़ी होती है। अमुक तिथि से अमुक तिथि तक कितने दिन होते हैं इसका हिसाब हर एक आदमी नहीं लगा सकता, न जाने बीच में कोई तिथि टूट गई हो या बढ़ गई हो तो १० के ११ भी हो सकते हैं और ९ भी हो सकते हैं। इसी प्रकार साधारण हिसाब में किसी तिथि को रविवार आता हो तो

तिथि के घटने बढ़ने में शनिवार या सोमवार भी आ सकता है। इस तरह चन्द्र-मासों को जब वर्ष का अंग बनाया जाता है तब बड़ी परेशानी होती है। इस की अपेक्षा जनवरी फरवरी आदि ईस्वीसन् के महीने अच्छे क्योंकि इस से हम कभी भी तारीख और वारका हिसाब ठीक ठीक लगा सकते हैं।

पर इन महीनो की संख्या बड़ी गड़बड़ है। कोई महीना २८ दिनका, कोई ३० का, कोई ३१ का और किसी किसी वर्ष २९ का भी महीना होता है। ये चार तरह के महीने क्यों ? मेहनत तो सदा एक सी करना पड़ती है फिर कभी २८ दिन मे पूरा वेतन और कभी ३१ दिन मे, यह अन्धेर क्यों ?

माना कि साल में ३६५ दिन होते है इसलिये बारह भागों में विभक्त करने पर हर एक महीने

के एक में पूरे दिन नहीं आसकते। पर इसके लिये यही काफी था कि कोई महीना ३० दिन का और कोई ३१ दिन का होता २८ और २९ दिन के महीने क्यों ?

इन महीनों में अगर ज्यादा अन्तर न किया जाय तो इतना अन्तर बड़ी सरलता से किया जा सकता है कि जनवरी और मार्च का एक एक दिन कम करके फ़रवरी को दे दिया जाय। इस प्रकार जनवरी फरवरी मार्च मे तीनों महीने तीस तीस दिन के हो जायँ। चौथे वर्ष फ़रवरी को २९ दिन का करने के बदले ३१ दिन का कर दिया जाय। शताब्दी के पूरे होने पर ३० दिन का ही फ़रवरी माना जाय इस प्रकार वर्ष की दिन-गणना ठीक रहेगी और महीनों के दिनों की गड़बड़ी बहुत कुछ कम हो जायगी।

वर्षगणना कई तरह की है। चन्द्र-वर्ष और सूर्य-वर्ष तो है ही पर चन्द्र-वर्ष के सन् संवत् देश प्रान्त धर्म आदि अनेक निमित्तों से कई तरह के चलते हैं। ईस्वीसन् सूर्य-वर्ष के हिसाब से चलता है और दुनिया में बहुत ज्यादह प्रचलित है। हिजरी सन् चन्द्र वर्ष है और मुसलमानों में प्रचलित है। इसकी सब से बड़ी कमी यह है कि अधिक मास न होने से सूर्य-वर्ष से मेल नहीं बैठता। दुनिया के सन् संवतों के साथ हम इसका निश्चित अन्तर नहीं बना सकते। कुछ वर्ष बाद एक एक वर्ष का अन्तर बढ़ता जाता है।

हिन्दुस्तान के संवत् सूर्य-वर्ष से मेल खाते है पर ये बहुत से हैं और उनकी शुरुआत में भी गड़बड़ी है। उत्तर भारत में विक्रम संवत् चलता है दक्षिण में शक संवत् चलता है बंगाल

मे बंगाली संवत् अलग है। इसके सिवाय बुद्ध संवत् वीर संवत् आदि का भी रिवाज है। तुलसी संवत आदि नये नये संवत भी पैदा होते जाते है। कल दयानन्द संवत् गाँधी संवत् आदि पैदा हो सकते है। इन संवतो को कैसे रोका जाय ? अथवा रोका जाय या नहीं, यह भी प्रश्न है।

फिर विक्रम संवत में एक और गड़बड़ी है, कहीं यह चैत्र शुक्ला से शुरु होता है कहीं कार्तिक शुक्ला से, एक जगह पुराना संवत् चलता रहता है दूसरी जगह वही सवत बदल जाता है। फिर एक और परेशानी है। चैत्र शुक्ला से संवत् करने पर भी कोई उसे आधे चैत्र से शुरु करते हैं कोई लगते चैत्र से इसलिये चैत्र का आधा महीना पहिले सवत् में जाता है और आधा दूसरे महीने में। यह एक अटपटी सी बात है कि वर्ष

पूरा हो जाय पर महीना पूरा न हो। जो लोग शुक्ला से महीना प्रारम्भ करते है वे लोग और जो कृष्णा से महीना प्रारम्भ करते है वे लोग, शुक्ल पक्ष मे तो एक ही महीना मानते है पर कृष्ण पक्ष में दोनो के महीने जुदे जुदे हो जाते है। महाराष्ट्र या गुजरात में जो आश्विन कृष्णा है वह उत्तर भारत मे कार्तिक कृष्णा है। एक ही संवत् और वर्ष मे यह सब गड़बड़ी क्यों?

ज़रूरत इस बात की है चन्द्र-वर्ष और महीना तो एकसा हो जाय। ऐतिहासिक परम्परा क्या है कुछ कह नहीं सकते पर सुविधा के अनुसार परिवर्तन कर लेने मे फ़ायदा ही है।

यह उचित मालूम होता है कि महीने का प्रारम्भ शुक्लपक्ष से किया जाय। इससे विक्रम सवंत् वीर सवंत् आदि महीने के शुरु से शुरु

होंगे, आजकल मगसिर अथि महीने से नहीं। अमावस्या को महीनेका अन्त मानने का पुराना रिवाज भी है। उत्तरभारत वाले भी पूर्णिमा को १५ और अमावास्या को ३० लिखते हैं इससे मालूम होता है कि अमावस्या महीने का ३० वॉ दिन है।

विक्रम संवत् चैत्र की अपेक्षा दिवाली से मानना कुछ ठीक है कारण कि दिवाली पर ही व्यापारी अपने वर्ष का सारा हिसाब पूरा करते है, नया हिसाब चालू करते हैं। दिवाली भारत व्यापी बड़ासे बड़ा त्योहार है।

चैत्र के पक्ष में भी युक्तियाँ हैं और कृष्ण पक्ष से मास प्रारम्भ करने मे भी कारण दिये जा सकते हैं पर सुविधा की दृष्टिसे उपर्युक्त सुधार ही ठीक मालूम होता है।

आज जो अनेक सन संवत् चल रहे हैं इनको मिटाना कठिन है, मिटाने की इतनी जरूरत भी नहीं है। कोई अपने महापुरुष या घटना के स्मरण में संवत् चलारहा है तो चलाया करे पर एक ऐसे सन संवत् की ज़रूरत अवश्य है जो सूर्य-वर्ष के अनुसार हो और जिससे ऐतिहासिक बातों के वर्णन मे सुभीता हो।

ईस्वीसन् इस के बहुत अनुकूल है पर उस में भी एक कठिनाई तो है ही। ऐतिहासिक विवेचनों में हमें बी. सी. और ए. सी. का विभाग करना पड़ता है। महावीर बुद्ध सुकरात प्लेटो, अरस्तू चन्द्रगुप्त अशोक कन्फ्यूसियस, जरथुस्त आदि हर देश के सैकड़ों ऐसे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं जिन का समय अच्छी तरह निश्चित है। पांच पांच हज़ार वर्ष की घटनाएँ ऐतिहासिक दृष्टिसे

निश्चित समय में प्रामाणिक हो रही है। उस समय तक हमारा ईस्वीसन नहीं पहुँचता। इसलिये हमें एक ऐसे विशाल सन संवत् की जरूरत है जिससे हम महाभारत, वेद, पिरेमिड, मोहन जोदड़ो हरप्पा आदि प्राचीन बातों का ठीक उल्लेख कर सकें। ऐतिहासिक घटनाओं में हमें ए. सी. बी. सी का हिसाब लगाने न बैठना पड़े।

उस नये सन् संवत से इतना लाभ और होगा कि किसी को यह बात कहने को न रह जायगी या बहुत कम रह जायगी कि हमारा संवत् सब ने न माना और अमुक का मान लिया।

नये संवत् के लिये यही ठीक है कि ईस्वी सन् में कुछ हजार वर्ष जोड़ दिए जाएँ और उसे आदम संवत् या मनु-संवत् कहा जाय। इसके लिये दस हज़ार वर्ष जोड़ना ठीक होगा क्योंकि इससे

वर्तमान ईस्वीसन् के अंकों में फ़र्क़ न करना पड़ेगा सिर्फ़ शुरु में १ और लिख देना पड़ेगा। १९४१ के बदले ११९४१ मनुसंवत लिखना होगा। इसप्रकार कम से कम परिवर्तन में हमारा काम चल जायगा।

इसी मनुसंवत में हम इतिहास की समस्त घटनाएँ निश्चित करना चाहिये। और भिन्न भिन्न संवतों का अन्तर भी इसी मनुसंवत से मिलान कर के बताना चाहिये।

मनु या आदम कब हुए इससे हमें मतलब नहीं, पर वे काफ़ी पुराने हैं इसमें कोई सन्देह नहीं।

उन्हें हम पहिला मनुष्य नहीं पर एक ऐसा महापुरुष मानलें जिसके नामपर मनुष्य जाति का नामकरण हुआ। हम आदम से आदमी या मनु के मानव कहलाते हैं।

समयगणना सम्बन्धी इन सब बातों का निचोड़ यह है कि हमें अपनी समयगणना में निम्नलिखित सुधार करना चाहिये :-

१-घंटों का व्यवहार हम बारह तक नहीं चौबीस तक करें जैसे रेलवे में किया जाता है।

२४ तक बजनेवाली घड़ियाँ बनाने की कोशिश करें, घड़ी न बने तो भी व्यवहार तो हम कर ही सकते हैं। दस से पाँच तक हमारा आफिस रहेगा यह कहने के बदले दस से सत्रह बजे तक आफ़िस रहेगा ऐसा कहें और ऐसा ही लिखें। इससे सुबह शाम, ए. एम. पी. एम., लिखने की झंझट छूट जायगी।

२-इस्वीसन् में दस हज़ार वर्ष जोड़कर आदम संवत् या मनुसंवत् के नाम से उसका

व्यवहार करें। विक्रम, ईस्वी, शक, हिजरी, वीर, बुद्ध बंग, आदि सन् संवत् मे जिसको जिसका व्यवहार करना हो करे, पर आदम संवत् या मनु संवत् का व्यवहार अवश्य करे।

३–अधिकतर सूर्यवर्ष का ही व्यवहार करें। हां, ज्योतिषी लोग चन्द्र-वर्ष का ख़याल रक्खेंगे इसलिये पंचांग या कलेण्डर मे साफ़ दिया जाता रहे कि अमावास्या और पूर्णिमा किस किस तारीख़ को पड़ेगी जिस से चन्द्रोदय के निमित्त रक्खे जाने वाले किसी कार्यक्रम का विचार किया जा सके, समुद्र के किनारे रहने वाले समुद्र के ज्वार भाटे का हिसाब रखा जासके।

४--महापुरुषों की जयन्ती तथा और ऐसी ही घटनाएँ सूर्य-वर्ष से मनायें, तारीख़ का पता

लगावें। जैसे मुहम्मद साहिब की जयन्ती का दिन सूर्य-वर्ष और चन्द्र-वर्ष दोनों से ही निश्चित है तो सूर्य-वर्ष के अनुसार तारीख से मनावें। और जिन जिन घटनाओं की सूर्य-वर्ष के अनुसार तारीख मालूम हो सके उन घटनाओं के उत्सव सूर्य-वर्ष के अनुसार मनाने लगें।

५--जनवरी फ़रवरी मार्च तीनों महीने तीस तीस दिन के मानले।

६-सारी दुनिया का एक स्टेन्डर्ड टाइम बनालें। सारी दुनिया का न बना सकें तो इस समय हम कम से कम सारे हिन्दुस्तान का ही बनाले।

७--उत्तर भारत और दक्षिण भारत मे हिन्दी महीने के प्रारम्भ में जो गड़बड़ी है वह मिटावें।

कृष्णपक्ष में एक आश्विन लिखे दूसरा कार्तिक लिखे यह ठीक नहीं।

इन परिवर्तनों में प्रारम्भ की दो बातें तो ऐसी हैं कि हर एक व्यक्ति अपनी इच्छा से कर सकता है. इसमें सब की सलाह लेने की ज़रूरत नहीं इसीलिये इसका व्यवहार तो तुरंत कर देना चाहिये।

तीसरे परिवर्तन को कुछ आन्दोलन की ज़रूरत है, साथ ही कलेन्डर आदि के प्रकाशन की ज़रूरत है। पर थोड़ा खर्च किया जाय थोड़ा आन्दोलन किया जाय तो यह काम सरलता से हो सकता है।

चौथा परिवर्तन भी इसी तरह थोड़े से लोगों के संगठन कार्य में हो सकता है और धीरे धीरे वह फैल सकता है।

पांचवें सुधार को सफल बनाने का एक तरीका यह है कि जनवरी आदि महीनों के नाम कुछ इस तरह बदल दिये जायँ कि वे चालू महीने से मिलते हों लेकिन उनके परिवर्तित रूप से पता लगे कि इनका सम्बन्ध आदम संवत् से है। परिवर्तित नाम और उनके दिनों की संख्या इस तरह हो।

१ जनवरी	जनवती	३०	दिन
२ फरवरी	परवती	३०	,,
३ मार्च	मार्ग	३०	,,
४ अप्रेल	अपरील	३०	,,
५ मई	मही	३१	,,
६ जून	यौन	३०	,,
७ जुलाई	कुलादि	३१	,,
८ अगस्त	अगस्थ	३१	,,

९	सितम्बर	सिताम्बर	३० ,,
१०	अक्टूबर	रक्ताम्बर	३१ ,,
११	नवम्बर	नवाम्बर	३० ,,
१२	दिसम्बर	दिशाम्बर	३१ ,,
			३६५ दिन

इसमें पिछले नव महीनों में तो तारीखों की कोई गड़बड़ न होगी। जनवरी के ३० दिनों में भी तारीख एकसी रहेगी। ३१ जनवरी से २८ फ़रवरी तक आदम संवत् की तारीख एक अधिक रहेगी और १ मार्च से ३१ मार्च तक आदम संवत की तारीख़ एक कम रहेगी। ईस्वी सन् की तारीख़ भले ही आज के समान चले पर आदम संवत् में हम उन्हें महीनों के नये परिमाण से चला सकेंगे। और इस अन्तर का पता महीनों

के मिलते जुलते नये नामो से लगता रहेगा। इस प्रकार पांचवाँ सुधार भी सरलता से हो सकेगा।

छट्ठा सुधार हिन्दुस्तान मे तो चलता ही है उस पर कुछ अधिक ज़ोर देने की ज़रूरत है। सारी दुनिया का एक स्टेन्डर्ड टाइम बनाने के लिये कुछ अधिक आन्दोलन करना पड़ेगा।

हां, इस विषय मे कुछ लोगो की यह अपत्ति हो सकती है कि उदयमाध्यम सब जगह छः बजे मानने मे सूर्योदय से दिन परिमाण और दिन परिमाण से सूर्योदय निकालने में सुभीता होता है। पांच बजे सूर्य का उदय हो तो हम समझते हैं कि सात बजे अस्त होगा। बारह में से उदय का परिमाण निकालने से सूर्यास्त का समय निकल आता है। और इससे दिन परिमाण का भी पता लग जाता है।

निःसन्देह यह सुविधा है मगर इस सुविधा का ठीक ठीक उपयोग करने के लिये हमें हर शहर की घड़ी का अलग अलग समय रखना पड़ेगा। क्योंकि पूर्व से पश्चिम की तरफ़ उदय अस्त के समय में फ़र्क़ होता जाता है। इसकी अपेक्षा यह अच्छा है कि हम ख़ास ख़ास स्थानों के उदय-माध्यम और अस्त माध्यम का ध्यान रक्खे।

गरमी के दिनों में सूर्य का उदय ५ बजे होता है और ठंड के दिनो मे सात बजे, इसलिये उदय माध्यम छः कहलाया अस्त माध्यम अठारह। सूर्योदय छः बजे से जितने पहिले होगा सूर्यास्त अठारह बजे (अर्थात् शाम के छः बजे) के उतने ही बाद होगा।

इस नियमका उपयोग हम सब जगह कर सकते हैं। स्टेन्डर्ड टाइम के अनुसार कहीं गर्मी

के दिनों में सूर्योदय १ बजे होगा और ठंड के दिनों में ३ बजे। उस जगह सूर्योदय का माध्यम २ बजे होगा और अस्त का माध्यम १४ बजे। वहाँ सूर्योदय दो बजे के जितने पहिले होगा सूर्यास्त १४ बजे के उतने बाद होगा। इस तरह सब जगह सूर्योदय से दिन परिमाण और दिन परिमाण से सूर्योदय सूर्यास्त जाना जा सकेगा।

सूर्योदय सब जगह जुदे जुदे समय पर होता है इसलिये सब जगह का उदय माध्यम भी जुदा होना चाहिये। उस को ध्यान में रखने से सब हिसाब ठीक बैठगा। जो लोग जहाँ रहते हैं वे अपने यहाँ का उदय माध्यम ध्यान में रक्खेंगे ही। इससे उन्हें बोझ न पड़ेगा।

इस प्रकार दिन-परिमाण आदि के हिसाब की पूरी सुविधा रहने पर भी अनेक असुविधाएँ

दूर होगी। पहिली असुविधा यह दूर होगी कि जगह जगह हमें घड़ीका समय न बदलना पड़ेगी।

सूर्योदय का समय सब जगह जुदा जुदा है, लेकिन माना जाता है सब जगह छः बजे, इससे साधारण लोगों को व्यर्थ का भ्रम होता है। वे समझते हैं सूर्य का उदय सब जगह एक ही समय हो जाता है। उन्हें दुनिया भर में घुमादो पर उनका यह भ्रम दूर न होगा।

एक सा टाइम होने से तार आदि के लेने देने में समय की गड़बड़ी न रहेगी। मानलो हिन्दुस्तान से यूरोप को एक तार दिया गया। तार दिन को ग्यारह बजे दिया गया। वहां के आफिस ने १ घंटे में ले लिया। पर जब यहां १२ बजे थे तब वहाँ छः ही बजे थे। इसलिये हमारी घड़ी के

अनुसार तो दिन के १२ बजे तार लिया गया तब उनकी घड़ी के अनुसार उसी तारीख़ के सुबह छः बजे तार लिया गया। अगर यही समय तार के फ़ार्म पर लिख दिया जाय तो यों लिखा जायगा—

भेजा हिन्दुस्तान से ता. १५ नवम्बर १९४१ दिन को ११ बजे। पहुँचा यूरोप ता. १५ नवम्बर १९४१ सुबह ६ बजे।

मतलब यह कि एक घंटा बीच मे समय खोकर भी भेजने के पांच घंटे पहिले तार पहुँचा कहलाया मानो पैदा होने के पहिले ही अपना काम कर गया। एक स्टेन्डर्ड टाइम सब जगह होने से ये हास्यास्पद गड़बड़ियाँ दूर हो जायँगी।

सातवाँ सुधार कुछ आन्दोलन लेगा। लेकिन गुजरात की तरफ़ का समर्थन उसे प्राप्त है इसलिये उसके प्रचलन में कठिनाई न होगी। साथ में इसकी बहुत ज़रूरत भी नहीं है क्योंकि हमें आदम संवत् को महत्व देना है।

पहिले तो पाठक इस विषय में अपने अपने विचार रक्खें। एक बार और इन पर अच्छी तरह विचार हो जाय फिर अपने अपने साधनों के अनुसार इन्हें कार्य परिणत करने लगें।

मुद्रक
सत्येश्वर प्रिंटिंग प्रेस, सत्याश्रम
वर्धा